विवेक-ज्योति
वर्ष ४१ अंक १० अक्तूबर २००३ मूल्य रु. ६.००
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

|| आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ||

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २००३

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक १०

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १२

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

सभी धर्म सत्य हैं

कूपमण्डूक की तरह न बनो। कुएँ में रहनेवाले मेढक को कुएँ से बड़ा या अच्छा कुछ भी दिखाई नहीं देता। इसी तरह जो कट्टर होते हैं, उन्हें अपने मत से बढ़कर कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता।

किसी कुएँ में एक मेढक रहता था। वह वहीं जन्मा था और वहीं बड़ा हुआ था। एक बार एक समुद्र का मेढक उस कुएँ में आ पड़ा। कुएँवाले मेढक ने उससे पूछा, ''तुम कहाँ से आ रहे हो।'' समुद्री मेढक बोला, ''समुद्र से।'' कुएँवाले मेढक ने पूछा, ''समुद्र कितना बड़ा है ?'' दूसरे मेढ़क ने उत्तर दिया, ''बहुत बड़ा !''

तब कुएँवाले मेढ़क ने अपने दो हाथ फैलाकर पूछा, ''इतना बड़ा ?'' समुद्री मेढक बोला, ''इससे बहुत बड़ा।'' तब कुएँवाले मेढक ने कुएँ के इस ओर से उस ओर तक छलाँग मारकर पूछा, ''फिर क्या वह इतना बड़ा है?''

समुद्रवाले मेढक ने कहा, ''नहीं, वह इससे भी बहुत बड़ा है।'' तब कुएँ का मेढक बोला, ''तेरी बात झूठ है। भला कुएँ से भी बड़ा कुछ हो सकता है?''

क्षुद्र बुद्धिवाले भी इसी प्रकार सोचा करते हैं कि उन्हीं का मत ठीक है, दूसरों का गलत।

जैसे एक ही जल को कोई 'वारि' कहता है और कोई 'पानी', कोई 'वाटर' कहता है, तो कोई 'एक्वा', उसी प्रकार एक ही सच्चिदानन्द को देश-भेद के अनुसार कोई 'हरि' कहता है, तो कोई 'अल्लाह', कोई 'गॉड' कहता है, तो कोई 'ब्रह्म'। जैसे एक ही शक्कर की मिठाई के अलग अलग आकार बनाए जाते हैं, उसी प्रकार एक ही ईश्वर विभिन्न देश-काल में विभिन्न नाम-रूपों में पूजे जाते हैं।

ईश्वर के अनन्त नाम और अनन्त रूप हैं। जिस नाम और जिस रूप में तुम्हारी रुचि हो, उसी नाम से और उसी रूप में तुम उन्हें पुकारो, तुम्हें उनके दर्शन मिलेंगे।

वर्ष ४१ अक्तूबर २००३ अंक १०

नीति-शतकम्

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेऽस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं यदि किममरैः किञ्च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ।।९४।।

अन्वयः - देवान् नमस्यामः ननु ते अपि हतविधेः वशगाः । विधिः वन्द्यः, सः अपि प्रतिनियत-कर्मैक-फलदः, फलं कर्मायत्तं, अमरैः किम्, विधिना च किम्, तत् कर्मभ्यः नमः येभ्यः विधिः अपि न प्रभवति ।

भावार्थ – मैं देवताओं को नमस्कार करता हूँ, परन्तु वे भी तो दुष्ट विधाता के वश में हैं। यदि विधाता की वन्दना करूँ, तो वह भी निश्चित कर्म के ही फल को देनेवाला है। और यदि फल भी कर्म के ही अधीन हैं, तो फिर देवताओं तथा विधाता की क्या जरूरत ! मैं तो उन कर्मों को ही प्रणाम करता हूँ, जिन पर विधाता ब्रह्मा का भी वश नहीं चलता।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ।।९५।।

अन्वयः - तस्मै कर्मणे नमः, येन ब्रह्मा ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरे कुलालवत् नियमितः, येन विष्णुः दशावतारगहने महासंकटे क्षिप्तः, येन रुद्रः कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः, सूर्यः नित्यम् एव गगने भ्राम्यति ।

भावार्थ – उस कर्म को प्रणाम है, जिसने ब्रह्माण्ड रूपी बर्तन के भीतर ब्रह्माजी को कुम्हार के समान सृष्टि करने के कार्य में लगा रखा है, जिसने विष्णु को (मीन, कूर्म आदि) दस अवतार ग्रहण करने के कष्ट में डाल दिया है, जिसने शिव को हाथ में कपाल लेकर भिक्षाटन करने को विवश कर दिया है और जिसके कारण सूर्य प्रतिदिन आकाश में भ्रमण करता रहता है।

- भर्तृहरि

दुर्गा-स्तुति

– १ –

महादेवि दुर्गे दुर्गति-दुःख हारिणी ।
शरणागत जन को, भव-उद्धार-कारिणी ।।

करते थे उत्पात जग में निशिचर-गण जब,
और पराजित त्रस्त हुए अपमानित सुर सब,
आश्रय लिया तुम्हारा जाकर उन लोगों ने,
किया उन्हें आश्वस्त शरण दे विश्व-स्वामिनी।।

रणचण्डी का वेश किया धारण तब तुमने,
निज निज अस्त्र प्रदान किये तुझको देवों ने,
महिषासुर के साथ युद्ध में उतर पड़ी तुम,
करती घोर निनाद झपटकर सिंहवाहिनी।।

पल में मर्दन कर डाला तुमने उस खल का,
अभय किया जग को लौटाया राज्य सुरों का,
मैं भी लुटकर मातु त्रस्त हूँ षड्‌रिपुओं से,
करके इनका अन्त बचा मुझको करालिनी।।

– २ –

जय दुर्गतिनाशिनी दुर्गे,
माँ ज्ञान-भक्ति का वर दे।।
मम अँधियारे जीवन को,
स्वर्णिम प्रकाश से भर दे।।

रिपुओं ने मुझको घेरा,
बस मिल जाये आश्रय तेरा,
निज तीक्ष्ण खड्‌ग से मातः,
तृष्णासुर का वध कर दे।।

विद्या है तू हि अविद्या,
तू मूल शक्ति है आद्या,
तू ने डाला बन्धन में,
तू ही इसका क्षय कर दे।।

– *विदेह*

उपनिषदों की महिमा

स्वामी विवेकानन्द

वेदों के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद्, वेदान्त या श्रुति भी कहते हैं। आचार्य लोग जब कभी श्रुति का कोई वाक्य उद्धृत करते हैं, तो वह उपनिषद् का ही होता है। यही वेदान्त-धर्म इस समय हिन्दुओं का धर्म है। यदि कोई सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों की सुदृढ़ स्थापना करना चाहता है, तो उसे वेदान्त की ही शरण लेनी होगी।

उपनिषदों का विषय एक है, उद्देश्य एक है और वह है निम्निलिखित विचार को स्थापित करना – "जैसे मिट्टी के एक ढेले के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेने से हम संसार की सभी मिट्टी के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही वह कौन-सा तत्त्व है, जिसको जान लेने से हम संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।"

उपनिषद् शक्ति की विशाल खान है। उनमें इतनी अधिक शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी बना सकते हैं। उनके द्वारा पूरे संसार को पुनरुज्जीवित, सशक्त और ऊर्जासम्पन्न किया जा सकता है। समस्त जातियों को, मतों को भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दुखी पददलित लोगों को स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त होने के लिए वे उच्च स्वर में उद्घोष कर रहे हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता – दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता – ये ही उपनिषदों के मूल मंत्र है।

यदि आजकल की भाषा में कहना हो, उपनिषदों का उद्देश्य चरम एकत्व के आविष्कार की चेष्टा है और भिन्नता में एकता की खोज ही ज्ञान है। प्रत्येक विज्ञान इसी नींव पर स्थापित है। मनुष्यों का सारा ज्ञान भिन्नत्व में एकत्व की खोज पर आधारित है। यदि दृश्य जगत् की थोड़ी-सी घटनाओं में ही एकत्व के अनुसन्धान की चेष्टा क्षुद्र मानवीय विज्ञान का कार्य हो, तो इस अपूर्व विचित्रता-संकुल विश्व के भीतर, हम जिसके नाम और रूपों में हजारों प्रकार की विभिन्नता देख रहे है, जहाँ जड़ और चेतन मे भेद है, जहाँ सभी चित्तवृत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं, एकत्व का आविष्कार करने का हमारा लक्ष्य कितना कठिन है पर इन विभिन्न स्तरो और अनन्त लोगो के भीतर एकत्व का आविष्कार करना ही उपनिषदो का लक्ष्य है।

उपनिषदो मे हमे पूर्वप्रचलित धारणाओं की तुलना में विराट् अन्तर मिलता है। उपनिषदों में कहा है – स्वर्गादि लोक जहाँ मनुष्य मृत्यु के बाद जाकर पितरों के साथ रहता है, कभी नित्य नहीं हो सकते, क्योंकि नाम-रूपात्मक सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। यदि स्वर्ग साकार है, तो काल के अनुसार उस स्वर्ग का अवश्य नाश होगा। हो सकता है, वह लाखों वर्ष रहे, परन्तु अन्त में ऐसा एक समय अवश्य आएगा कि उसका नाश होगा, और अवश्य होगा। इसी के साथ एक और भी धारणा उन लोगो के मन मे आयी और वह यह कि ये सब आत्माएँ दुबारा इसी पृथ्वी पर लौट आती है। स्वर्ग केवल उनके शुभ कर्मों के फलभोग का स्थान मात्र है, फलभोग पूरा होने पर वे फिर पृथ्वी पर ही जन्म ग्रहण करती हैं।

उपनिषदों के अध्ययन के प्रसंग में मेरे मन में जो दो-एक बातें आयी हैं, उनकी ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहता हूँ। पहले तो संसार में इनके जैसा अपूर्व काव्य अन्य नहीं है। वेदों के संहिता-भाग को पढ़ते समय उसमें भी जगह जगह अपूर्व काव्य-सौन्दर्य का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद-संहिता के 'नासदीय-सूक्त' को पढ़ो। उसमें प्रलय के गम्भीर अन्धकार के वर्णन में है – **तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रे** आदि – 'जब अन्धकार से अन्धकार ढँका हुआ था।' इसके पाठ ही से ऐसा जान पड़ता है कि इसमें कवित्व का अपूर्व गाम्भीर्य भरा हुआ है। तुमने क्या इस ओर दृष्टि डाली है कि भारत के बाहर के देशों में तथा भारत में भी गम्भीर भावों के चित्र खीचने के अनेक प्रयत्न किए गए हैं? भारत के बाहरी देशों में यह प्रयत्न सदा जड़ प्रकृति के अनन्त भावो के वर्णन में ही हुआ है – केवल अनन्त बहि:प्रकृति, अनन्त जड़, अनन्त देश का ही वर्णन हुआ है। जब भी मिल्टन या दाँते या किसी दूसरे प्राचीन अथवा आधुनिक यूरोपीय बड़े कवि ने अनन्त का चित्र अंकित करने का प्रयास किया है, तभी उन्होंने कवित्व के पंखो के सहारे अपने बाहर दूर आकाश में विचरते हुऐ, बाह्य अनन्त प्रकृति का कुछ कुछ आभास देने की चेष्टा की है। यह चेष्टा यहाँ भी हुई है। बाह्य प्रकृति का अनन्त विस्तार, जिस प्रकार वेद-संहिता मे चित्रित होकर पाठकों के सामने रखा गया है, वैसा अन्यत्र कही भी देखने को नही मिलता।

प्राचीन यूनान अथवा आधुनिक यूरोप जीवन-समस्या का समाधान पाने के लिए तथा जगत्कारण-सम्बन्धी पारमार्थिक तत्त्वो की खोज के लिए जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के अन्वेषण में जुट गए, उसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने भी किया और पाश्चात्यों के समान वे भी असफल हुए। परन्तु पश्चिमी जातियों ने इस विषय में और कोई प्रयत्न नहीं किया, जहाँ वे थीं वहीं

पड़ी रहीं। बहिर्जगत् में जीवन और मृत्यु की महान् समस्याओं के समाधान में असफल होने के बाद वे आगे नहीं बढ़ीं। हमारे पूर्वजों ने भी इसे असम्भव पाया, पर उन्होंने निर्भय होकर इस समाधान की प्राप्ति में इन्द्रियों की पूरी अक्षमता संसार के समक्ष घोषित की। उपनिषद् से अच्छा उत्तर कहीं नहीं मिलेगा।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

– मन के साथ वाणी जिसे न पाकर जहाँ से लौट आती है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः ।

– वहाँ न आँखों की पहुँच है, न वाणी की और न मन की।

ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिनमें इस महासमस्या के समाधान के लिए इन्द्रियों को सर्वथा अक्षम बताया है, किन्तु वे पूर्वज इतना ही कहकर रुक नहीं गए। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए वे स्वयं अपनी आत्मा के निकट गए, वे अन्तर्मुख हुए। वे समझ गए थे कि प्राणहीन जड़ से कभी सत्य की प्राप्ति न होगी। उन्होंने देखा कि बहि:प्रकृति से प्रश्न करने पर कोई उत्तर नहीं मिलता, न उससे कोई आशा की जा सकती है, अत: बाहर सत्य की खोज की चेष्टा वृथा जानकर बहि:प्रकृति का त्याग करके वे उसी ज्योतिर्मय जीवात्मा की ओर मुड़े और वहाँ उन्हें उत्तर भी मिला।

समस्त उपनिषदों का केन्द्रीय भाव प्रत्यक्ष अनुभूति है।

तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुंचथ – 'एकमात्र उस आत्मा को ही जानो और अन्य सब वृथा बातों को छोड़ दो।' उन्होंने सारी समस्याओं का समाधान आत्मा में ही पाया। उसी में उन्होंने विश्वेश्वर परमात्मा को जाना और जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध, उसके प्रति हमारा कर्तव्य तथा उसके आधार पर हमारे आपसी सम्बन्ध – आदि का ज्ञान प्राप्त किया और **इस आत्मतत्त्व के वर्णन के जैसी उदात्त कविता संसार में और दूसरी नहीं है**। जड़ के वर्णन की भाषा में इस आत्मा को चित्रित करने की चेष्टा न रही, यहाँ तक कि आत्मा के वर्णन में उन्होंने गुणों का उल्लेख भी बिल्कुल छोड़ दिया। तब अनन्त की धारणा के लिए इन्द्रियों की सहायता की जरूरत नहीं रही। बाह्य इन्द्रियग्राह्य, अचेतन, मृत, जड़-स्वभाव अवकाशरूपी अनन्त का वर्णन लुप्त हो गया और उसके स्थान पर आत्मतत्त्व का ऐसा वर्णन मिलता है, जो इतना सूक्ष्म है, जैसा कि इस उदाहरण में दीख पड़ता है –

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। मुण्डक. २/२/१७

– "वहाँ न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्र-तारकाओं का, यह बिजली उसे प्रकाशित नहीं कर सकती, तो मृत्युलोक की इस अग्नि की बात ही क्या? उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है।" संसार में और कौन-सी कविता इसकी अपेक्षा अधिक उदात्त होगी? ऐसी कविता तुमको कहीं नहीं मिल सकती, तुम और कहीं नहीं पाओगे।

अब हम उपनिषदों की शिक्षा पर चर्चा करेंगे। इनमें अनेक भावों के श्लोक हैं। कोई कोई पूर्णत: द्वैत-भावात्मक हैं और कुछ अद्वैत-भावात्मक हैं। किन्तु इनमें कई बातें है, जिन पर भारत के सभी सम्प्रदाय एकमत हैं। पहले तो सभी सम्प्रदाय संसारवाद या पुनर्जन्मवाद स्वीकार करते हैं। दूसरे, सब सम्प्रदायों का मनोविज्ञान भी एक ही प्रकार का है – पहले यह स्थूल शरीर, इसके पीछे सूक्ष्म शरीर या मन है और इसके भी परे जीवात्मा है। पश्चिमी और भारतीय मनोविज्ञान में यह विशेष भेद है कि पश्चिमी मनोविज्ञान में मन और आत्मा में कोई भेद नहीं माना गया है, परन्तु हमारे यहाँ ऐसा नहीं है। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मन अथवा अन्त:करण मानो जीवात्मा के हाथों का यन्त्र-मात्र है। इसी की सहायता से वह शरीर अथवा बाहरी संसार में काम करता है। इस विषय में सभी का मत एक है और सभी सम्प्रदाय एक स्वर में यह स्वीकार करते हैं कि जीवात्मा अनादि और अनन्त है। जब तक उसे पूर्ण मुक्ति नहीं मिलती, तब तक उसे बार बार जन्म लेना होगा। इस विषय में सभी सहमत हैं। एक और मुख्य विषय में सबकी एक राय है, और यही भारतीय और पश्चिमी चिन्तन-प्रणाली में विशेष मौलिक तथा अत्यन्त जीवन्त तथा महत्त्वपूर्ण अन्तर है, यहाँ वाले जीवात्मा में सब शक्तियों की अवस्थिति स्वीकार करते हैं। यहाँ शक्ति और प्रेरणा के बाह्य आवाहन के स्थान पर उनका आन्तरिक स्फुरण स्वीकार किया गया है। हमारे शास्त्रों के अनुसार **सब शक्तियाँ, सब प्रकार की महत्ता और पवित्रता आत्मा में ही विद्यमान है।**

अत: वेद घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय निर्मम विधानों का संघात है, और न यह कि वह कार्य-कारण का अछेद्य बन्धन है; वरन् वे यह घोषित करते है कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, जड़-तत्त्व और शक्ति के प्रत्येक अणु-परमाणु में ओतप्रोत वही 'एक' (आत्मा या ब्रह्म) विराजमान है, "जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर नाचती है।" –

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः।।

– कठोपनिषद्, २/३/३

अंगद-चरित (१०/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके अन्तिम प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर मे प्राध्यापक हैं। – सं.)

गोस्वामी जी कहते हैं – मैं श्रद्धारूपी भवानी और विश्वास-रूपी शंकर जी की वन्दना करता हूँ –

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। १/२

यही विश्वास का दूसरा रूप है। भगवान शंकर ने विष को भी पी लिया और उसे अमृत बना लिया। इसलिए विश्वास की दूसरी परिभाषा है – वह जो विष को भी अमृत बना सकता है। शंकर जी के जीवन में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। साधारण विश्वास तो कोई भी कर सकता है, विश्वासपूर्वक मिठाई का प्रसाद लीजिए, कल्याण होगा। मिठाई का प्रसाद तो कोई भी ले लेगा – चलो, कल्याण नहीं भी हुआ, तो मिठाई का स्वाद तो मिलेगा ही। मिष्ठान्न का प्रसाद ले लेने मे और तुलसीदल या जल का चरणोदक लेने में व्यक्ति यह मानकर चलता है कि चलो, कोई लाभ न हो, तो कोई हानि भी तो नहीं है।

एक युवक ने मुझसे एक दिन बड़ा तर्क किया कि मुझे तो ईश्वर पर कोई विश्वास नहीं है। कुछ दिन बाद जब मैं काशी में गोस्वामी जी द्वारा प्रतिष्ठापित संकटमोचन हनुमान जी के दर्शन को गया, तो वहाँ वही युवक हनुमान जी के सामने हाथ जोड़े खड़ा हुआ है। दर्शन कर चुका, तो मैंने उससे पूछा – "लगता है, तुम्हारे विचार बदल गए।" उसने कहा – "नही, बदला तो नही है।" – "फिर यहाँ कैसे आ गए?" उसने कहा – "आजकल परीक्षाएँ चल रही हैं। इस समय छात्रावास के सभी विद्यार्थी यहाँ दर्शन करने आते हैं, तो मुझे डर लगता है कि सब जा रहे हैं और मैं न जाऊँ तो क्या पता, हनुमान जी हों ही और मुझे फेल कर दें, तो इससे अच्छा है कि चलो, जाने में क्या हानि है? न हुआ, तो समझ लो घूम आए। केवल हाथ ही तो जोड़ना है, सिर ही तो झुकाना है, इसमें हानि क्या है? यदि हैं तो ठीक, न हों तो भी ठीक।"

तो इस प्रकार का विश्वास तो न जाने कितने लोग करते हैं, पर विश्वास का अभिप्राय यह है कि शंकर जी को पीने के लिए विष दिया गया और उसे भी वे पी गए। मीरा को चरणोदक के रूप में विष दिया गया। मीरा को पता था कि यह विष है, पर कितनी अगाध आस्था रही होगी, कितना अगाध विश्वास रहा होगा कि उन्होंने कहा – "नहीं, नहीं, यह भगवान का चरणोदक है, इससे कल्याण ही होगा।" भगवान शंकर को ज्योंही विष दिया गया, प्रभु का नाम लेकर उन्होंने उस विष को पी लिया और उस विष को उन्होंने अमृत बना लिया –

नाम प्रभाउ जान सिव नीको।
कालकूट फल दीन्ह अमी को।। १/१९/८

शंकर जी उस विष को पीकर अमर हो गए। विष अमृत हो गया। इस प्रकार से विश्वास की पहली आवश्यकता यह है कि वह अक्षय है और दूसरी विशेषता है कि वह विष को भी अमृत बना देता है। पर ऐसे जो विष को भी अमृत मे परिणत करनेवाले शंकर जी हैं, उनके लिए भी कितनी कठिन समस्या है! विश्वास की बार बार परीक्षा होती है और उस परीक्षा में व्यक्ति बड़ी कठिनाई से उत्तीर्ण हो पाता है।

शंकर जी के साथ क्या हुआ? पार्वती जी के साथ शंकर जी का विवाह होना निश्चित हो गया है। दूल्हा बारात लेकर पहुँच गया है। दूल्हा विश्वास है और दुलहन श्रद्धा है। **पार्वती जी श्रद्धा हैं और भगवान शंकर हैं विश्वास।** श्रद्धा-विश्वास का विवाह होना है। क्या यह इतना सरल है? श्रद्धा और विश्वास का विवाह होने के लिए पहले तो सतीजी का पुनर्जन्म हुआ। दक्षपुत्री के स्थान पर वे हिमालय की पुत्री बनी। सती-शरीर का परित्याग किया। नया जन्म लेकर कितनी तपस्या की, तब भगवान शंकर ने स्वीकार किया। श्रद्धा-विश्वास का मिलन होने वाला है, लेकिन अभी परीक्षा बाकी है। पार्वती किसकी बेटी हैं? माता-पिता कौन हैं? पिता हिमाचल हैं और माँ है मैना। वही सूत्र है – हिमाचल माने जो अचल है। पर्वत का एक नाम है अचल। पार्वती के पिता अचल हैं और माँ मैना अर्थात् 'बुद्धि' हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जब मैना और हिमाचल का योग हो, जब अचल-आस्था और शुद्ध-बुद्धि का योग हो, तब श्रद्धा का जन्म होता है। अब जब परीक्षा हुई, तो मैना यानी इतनी पैनी बुद्धि भी प्रारम्भ में अनुत्तीर्ण हो गई। इसलिए तो महापुरुषो ने भगवान से प्रार्थना की है – "प्रभो, मेरे विश्वास की परीक्षा कभी मत लेना। दूसरे ले तो कोई बात नही, लेकिन आप न लीजिएगा, क्योंकि वह विश्वास तो हमे आप से ही मिलता है और आप ही हमारे विश्वास को छीनकर हमारी परीक्षा लेंगे, हममे विश्वास देखना चाहेंगे, तब तो हम अनुत्तीर्ण हुए बिना नहीं रहेंगे।" इसका

अभिप्राय यह है कि बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी भ्रमित होकर विश्वास खो बैठता है। मैना ने तो हिमाचल से बुद्धि की भाषा में कह दिया था – घर भी अच्छा हो, वर भी अच्छा हो और उसका कुल भी अच्छा हो –

जौ घरु बरु कुलु होइ अनूपा।
करिअ बिबाहु सुता अनुरूपा ।। १/७१/३

पर जब बाद में मैना ने पता लगाया कि शंकर जी का घर कहाँ है? तो पता चला कि श्मशान में रहते हैं। जब पता लगाया कि इसका कुल कौन-सा है? तो पता चला कि उनके पिता का ही कुछ पता नहीं है। और जब पूछा कि वर कैसा है? तो बोले – पागल है। फिर यह दूल्हा आया था अपने स्वाभाविक वेश में। शंकर जी यदि चाहते तो रूप बदलना उनके संकल्प मात्र से ही सम्भव था। और जब देवताओं ने कहा – "महाराज, कुछ समय के लिए आप जरा अपना यह रूप छोड़ दीजिए।" तो शंकर जी ने मुस्कुराकर कहा – "अब जब श्रद्धा की परख ही हो रही है, तो हमारा असली रूप देखकर श्रद्धा यदि बनी रहे, तब तो वह श्रद्धा है, नकली रूप देखकर जो हो, वह वास्तविक श्रद्धा है क्या? श्रद्धा तब मानेंगे, जो इस सदा के रूप को देखकर भी बनी रहे। अब संसार के जो दूल्हे हैं, वे बिचारे यही कोशिश करते हैं कि अन्य दिन चाहे न भी मिले, पर उस दिन तो सवारी अवश्य मिल जाय। अन्य दिन उतना अच्छा कपड़ा न भी हो, पर उस दिन मिल जाय। इस बात का संसार में बड़ा सम्मान है, इसके बिना वर दूल्हा नहीं माना जाता। पर भगवान शंकर कहते हैं कि जो वरत्व सवारी और कपड़े से मिलेगा, वह तो दूसरे दिन उतर जाएगा, पर मेरा वरत्व तो यही है कि मैं जैसा हूँ, वैसा ही चलूँगा, नकली वेश में बिल्कुल नहीं।

इधर मैना सोने की थाल में दीपक जलाए हुए प्रतीक्षा कर रही थीं। उसके मन में कैसी मधुर मधुर कल्पनाएँ उठती हैं। मैना – बुद्धि कल्पना कर रही है – दूल्हा कितना सुन्दर होगा! कैसे घोड़े पर आयेगा! कैसे मैं स्वागत करूँगी! कैसे आरती उतारूँगी! बड़ी प्रसन्न थीं। परन्तु जब दूल्हा द्वार पर पहुँचा और मैना थाल लेकर आईं, तो क्या दिखाई पड़ा? बिल्कुल उल्टा दृश्य –

मैंना सुभ आरती सँवारी।
संग सुमंगल गावहिं नारी ।।
कंचन थार सोह बर पानी।
परिछन चली हरहि हरषानी ।। १/९६/२-३

इस दूल्हे की आरती कौन उतारे! थाली पटक दिया और बस, घर में रोना-धोना मच गया –

बिकट बेष रुद्रहि जब देखा।
अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा ।।
भागि भवन पैठीं अति त्रासा। १/९६/४-५

बुद्धि भ्रमित हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कल्पित चीज पर हम आस्था और विश्वास भले ही पा लें, पर कभी कभी जब वह अपने वास्तविक रूप में आती है, तो हम देखकर चौंक जाते हैं। मैना जैसी बुद्धिमती नारी, जिनकी बुद्धि बड़ी पैनी है, वे भी भ्रमित हो जाती है। और उनकी बुद्धि यहाँ तक बिगड़ती है कि जिसने इस विवाह की योजना बनाई, उसको भी दस-पाँच बातें सुना दी –

नारद कर मैं काह बिगारा।
भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा ।।
साचेहुँ उन्ह कें मोह न माया।
उदासीन धनु धामु न जाया ।।
पर घर घालक लाज न भीरा।
बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा ।। १/९७/१,३-४

नारद से रुष्ट, शंकर से भी रुष्ट। नारद गुरु है, शंकर इष्ट हैं। विश्वास जब हमारी कल्पना के अनुरूप नही आता, तब हमारे मन में गुरु और इष्ट दोनों के प्रति भ्रान्ति पैदा हो जाती है। **यह भ्रान्ति पार्वती में नहीं है**। उन्हें ऐसा नही लगा कि कैसे पागल से मेरा विवाह कर दिया! क्यों? देवताओं ने शंकर जी को उलाहना दिया – "महाराज, मैना को यदि धोखा हुआ, तो इसमें दोष तो आपका ही है। एक दिन के लिए आप ये साँप आदि हटा लेते, तो कुछ बिगड़ जाता क्या? अब साँप को देखकर तो किसी को भी डर लगेगा।" शंकर जी बोले – "पार्वती ने भी सर्प देखा, पर उन्हे तो डर नही लगा। डरना मैना को चाहिए या पार्वती को? विवाह तो पार्वती से हो रहा है। जो मेरे पास बैठेगी, उसे यदि डर लगे तब तो समझ मे आता है। मैना को तो बस दूर से ही आरती उतारनी थी। यही तो दृष्टि का भेद है!"

किसी ने पार्वती से पूछा – आपको शंकर जी के शरीर पर साँप देखकर कैसा लगा? वे बोलीं – "मैं तो यह सोचकर गद्‌गद हो गई कि सर्प तो काल है, काल से सब डरते हैं, पर धन्य हैं हमारे पतिदेव, जिन्होंने उसे भी आभूषण बना रखा है। जब मैं देखती हूँ कि काल को आभूषण बनानेवाला दूल्हा मिला है, तब तो मेरे जीवन में सौभाग्य नष्ट होने की समस्या ही नही है।" शंकर जी कहते हैं – "मैना तो केवल सर्प ही देखती रह गईं। सर्प किसके हाथ में है? उसे धारण करनेवाला कौन है? उस पर सर्प का परिणाम हो रहा है या नहीं, यह सब दिखाई ही नहीं दिया।" पर अन्त में बुद्धि का वह दोष मिटा। नारद जी हार माननेवाले नहीं थे। सन्तों के प्रति भी कभी कभी क्रोध आ जाता है, पर सन्त कभी हार नहीं मानते। नारद जी तुरन्त सप्तर्षियो को लेकर पहुँचे और मैना से पूछा – तुमको इतनी चिन्ता क्यों हो रही है? सुनकर मैना का पारा और चढ़ गया। बोलीं – "बेटी की चिन्ता मैं न करूँगी, तो क्या आप करेंगे? आपका क्या, आपके तो न बेटी, न घर, न परिवार –

बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा ।। १/९७/४

हिमाचल की आस्था तो अचल रही, पर बुद्धि थोड़ी देर के लिए विचलित हो गई। जब विश्वास हमारी कल्पना से भिन्न भयानक रूप में सामने आता है, तब बुद्धि विचलित हो जाती है। और तब उसे शान्त करने का उपाय है सत्संग। मैना की बुद्धि की भ्रान्ति सत्संग से दूर हुई। सन्त स्वयं आ जायँ या फिर हमें सन्तों के पास जाना चाहिए।

नारद जी ने कहना प्रारम्भ किया – मैना जी, पहले यही निश्चय हो जाना चाहिए कि ये तुम्हारी बेटी हैं या तुम इनकी बेटी हो। और कहा – भले ही ये तुमको बेटी दिखाई दे रही हैं, पर वस्तुत: ये तुम्हारी बेटी नहीं, माँ है, जगदम्बा हैं। तुम इनकी चिन्ता मत करो, बल्कि ये ही तुम्हारी चिन्ता करें। माँ को ही अपनी सन्तान की चिन्ता करनी चाहिए –

मयना सत्य सुनहु मम बानी ।
जगदम्बा तव सुता भवानी ।। १/९८/२

– आप सोच रही हैं कि पार्वती का विवाह शंकर जी से नहीं होने देंगी, पर देखिए तो – पार्वती कहाँ बैठी हुई हैं? जब ये बातें हो रही थीं, तो पार्वती जी मैना की गोद में बैठी थीं, पर नारद जी के कहने पर मैना ने क्या देखा? अद्भुत दृश्य था। मैना जी को पार्वती अपने गोद में नहीं दिखाई दी। नारद जी ने दृष्टि देकर कहा – देखो, पार्वती जी कहाँ हैं! याद रखो, पार्वती जी कुछ समय के लिए भले ही तुम्हारी गोद में दिखाई दीं, पर जिनसे वे कभी अलग नहीं हो सकती, जिनकी वे अभिन्न शक्ति हैं, वे हैं भगवान शंकर –

अजा अनादि सक्ति अबिनासिनी ।
सदा संभु अरधंग निवासिनी ।।
जग संभव पालन लयकारिनि ।
निज इच्छा लीला बपु धारिनी ।।१/९८/३-४

और तब पार्वती के माता-पिता – मैना और हिमाचल – दोनों बड़े प्रसन्न हुए और सबसे पहला काम उन्होंने जो किया, वह था कि उन्होंने पार्वती जी को साष्टांग प्रणाम किया –

तब मयना हिमवंतु अनंदे ।
पुनि पुनि पारबती पद बंदे ।। १/९९/१

एक बार नहीं बारम्बार। पार्वती जी संकोच में पड़ गईं, पूछती हैं – मुझे क्यों प्रणाम कर रहे हैं आप लोग। मैना और हिमाचल ने कहा – "बचपन से ही हर रोज तो तुमने प्रणाम किया है, अब जीवन भर तुम्हें प्रणाम करके भी हम तुम्हारे प्रणाम को नहीं लौटा पाएँगे।"

इसके बाद **तीसरा संकेत है** – विश्वास की कल्पित रूपरेखा के स्थान पर विश्वास के वास्तविक स्वरूप को देखें। **विश्वास शिव हैं।** वे कभी रूद्र रूप में भी दिखाई देते हैं, पर तत्त्वत: शिव तो शिव हैं, कल्याण-स्वरूप हैं। पर कभी कभी जीवन में प्रतिकूलता आ जाती है। दूसरा संकेत था कि विश्वास अक्षय-वट है। वह कभी नष्ट नहीं होता। विश्वास विष को अमृत बना देता है और प्रतिकूलता में भी कल्याण-स्वरूप है। तत्त्वत: वह शिव है। **विश्वास चाहे शिव के रूप में दिखाई दे या रुद्र के रूप में – दोनों रूपों में वह शिव है।**

गोस्वामी जी ने विश्वास के रूप में भरत जी के हृदय को चुना और उसकी तुलना आकाश से की। जैसे नभ में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि उदित रहते हैं, वैसे ही भरत जी का प्रेम चन्द्रमा है और जप, तप, पूजा, उपवास आदि मानो तारे हैं –

नखत भरत हिय बिमल अकासा । २/३२४/४

लेकिन इसमें सबसे विलक्षण तारा कौन-सा है? ये तारे अपना स्थान बदलते रहते हैं। कभी इधर दिखाई देते हैं कभी उधर। लेकिन इनमें एक तारा ऐसा है, जिसे 'ध्रुव' कहते हैं। ध्रुव अर्थात् जो अपना स्थान कभी न छोड़े। इसीलिए विवाह की विधि में, वर-कन्या का गठबन्धन करने के बाद दोनों से कहा जाता है – अब तुम ध्रुवतारे को देखो। अब मण्डप तो बना हुआ है घर के भीतर और उसमें बैठी हुई दुलहन के मुँह पर यदि घूँघट हुआ, तो ऐसी स्थिति में आकाश में ध्रुव कैसे दिखाई देगा। तो कहना होगा कि दूल्हा-दुलहन – दोनों को नहीं दिखाई दे रहा है। उस समय शास्त्र का निर्देश है कि न दिखाई दे तो भी दोनों को कहना चाहिए कि दिखाई दे रहा है। तो क्या यह झूठ बोलने की प्रेरणा दी जा रही है – नही दिखाई देने पर भी कहो कि दिखाई दे रहा है। शास्त्र का अभिप्राय यह है कि आँख से दिखाई देना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्व ध्रुव के तात्पर्य का है और वह तो व्यक्ति के हृदय में है। अगर वह ध्रुववृत्ति आ गई, तो स्थूल आँखों से दिखाई दे रहा है या नहीं – इसका महत्त्व नहीं रह जाता। ध्रुव आकाश में दिखाई दे और ध्रुव का तात्पर्य हमारे जीवन में न आवे, तो ध्रुव का कोई अर्थ नहीं है। गोस्वामी जी कहते हैं –

ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी ।
स्वामि सुरति सुरबीथि बिकासी ।। २/३२५/५

भरत जी के हृदय का विश्वास मानो ध्रुव है। विश्वास की यह **चौथी परिभाषा है – जो अटल है, जो अपनी दिशा कभी नहीं बदलता, वही विश्वास है।** तात्पर्य यह कि साधना, उपासना-पद्धति बदलती रहती है, पर विश्वास कभी नहीं बदलता। वर-कन्या के विवाह के सन्दर्भ में भी इसका अभिप्राय यही है कि दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति ध्रुव-विश्वास का उदय हो, जीवन में यह ध्रुवतारा आना चाहिए।

विश्वास की **पाँचवीं परिभाषा** आपको मिलेगी उत्तरकाण्ड में। वहाँ पर गोस्वामी जी कहते हैं **– पात्र विश्वास है –**

नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा ।। ७/११७/१२

यह सूत्र भी बड़ा सार्थक है। इसका अभिप्राय है कि बर्तन

की तुलना में महत्त्वपूर्ण तो दूध को ही माना जाता है, परन्तु यदि आप बिना बर्तन के गाय के पास दूध लेने पहुँच गए और उसे दूहने लगे, वह दूध देने भी लगी, पर बर्तन न होने पर तो सारा दूध भूमि में गिरकर नष्ट हो जाएगा। वैसे ज्ञान का दीपक जलाने के लिए जब श्रद्धा की गाय को दूहा जाएगा, तो उसके लिए पात्र चाहिए। पहले जीवन में श्रद्धा की गाय ले आइये। उसे साधना की हरी हरी घास खिलाइए –

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।
जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई ।।
जप तप ब्रत जम नियम अपारा।
जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा ।। ७/११७/९-१०

पहले श्रद्धा और उसके बाद सत्कर्म। सत्कर्म की तुलना घास से की गई। घास क्या है? किसी को यदि तुच्छ कहना हो, तो उसकी तुलना घास-फूस से करते हैं। पर गाय जितना भी दूध देती है, वह चारे के द्वारा ही देती है। अब चारे और दूध में कितना अन्तर है? कोई अतिथि आपके घर आये और आप दूध दीजिए, तो उसे वह अपना स्वागत समझेगा। और उसके सामने चारा रख दें कि इसी से दूध बनता है, लीजिए इसी को खा लीजिए, तो वह अपमान से क्रुद्ध हो उठकर चला जाएगा – तुम मुझे पशु समझते हो? इसका अभिप्राय यह है कि श्रद्धारहित कर्म अपमानजनक घास के समान होगा। गाय उस चारे को खाकर दूध बना दे। इस प्रकार **श्रद्धा में यह सामर्थ्य है कि वह हमारे सत्कर्म को दिव्य दूध के रूप में परिणत कर देती है**। उसके बाद बताया गया कि चारा कैसा हो। आलस्य के कारण चारा सुखाकर रख लिया जाता है, वही खिला देंगे। पर गाय को पूरा आनन्द तब आएगा, जब उसे हरा हरा ताजा चारा दिया जाएगा अर्थात् साधना सूखी नहीं, सरस चाहिए। सूखी साधना माने? दस दिन साधना किया, फिर साल भर के लिए छुट्टी पा ली। हो गई साधना! यह नित्य साधना, हरी घास जैसे आप नित्य काटकर लाते हैं, वैसे ही साधना एक दिन को भी न छूटे। नई-से-नई साधना होती रहे। अब चारा खिलाने के बाद भी गाय के स्तन में दूध कब आएगा? – जब बछड़ा होगा। तो जोड़ दिया –

भाव बच्छ सिसु पाई पेन्हाई ।। ७/११७/११

श्रद्धा हो, सत्कर्म हो, भाव हो। फिर तीनों के बाद दूहने वाला अहीर हो। और वह अहीर भी कैसा चुना गया? दूहने की कला भी सब नहीं जानते। जिनको गाय दूहने का निरन्तर अभ्यास हो, वे ही बढ़िया दूहते हैं। वैसे तो लोग दूध दूहने वालों को बुला लेते हैं, पर उनके साथ अक्सर झगड़ा होता रहता है। – क्यों? उसको कई जगह गाय दूहनी होती है। वे कभी जल्दी आ जाते हैं, तो कभी देर से। गोस्वामी जी कहते हैं कि इस गाय को दूहने के लिए अहीर रखते समय ध्यान रखना कि वह अधिक घरों में दूध दूहनेवाला न हो। और वह अहीर कौन है? मन ही वह अहीर है। श्रद्धा सत्कर्म और भावना का जो फल होगा, उसे दूहनेवाला मन ही है। गोस्वामी जी मन के साथ दो बातें जोड़ देते हैं – एक तो हाथ धोकर दूहेगा, तो दूध साफ रहेगा, गन्दे मन से मत दूहिए और उसके साथ अगला वाक्य और भी सुन्दर है – वह निज दास हो –

निर्मल मन अहीर निज दासा। ७/११७/१२

'निज-दास' का क्या अर्थ है? जिनका मन बहुधन्धी है, न जाने कहाँ कहाँ भटकने वाला है, कभी यहाँ गया, कभी वहाँ गया, वह क्या दूहेगा? तो इस मन के अहीर में स्वच्छता हो, निजदासत्व हो। इस प्रकार सत्कर्म हो, सद्भाव हो, मन निर्मल हो, भटकने वाला न हो, शान्त हो, पर इसके बाद भी आपके जीवन में उतना ही दूध आएगा, जितना बड़ा आपके पास बर्तन होगा –

नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा।
निर्मल मन अहीर निज दासा ।। ७/११७/१२

बर्तन न हो, तो दूध आयेगा भी तो वह नीचे बह जाएगा। यह विश्वास ही बर्तन है। और बर्तन हो, पर उसमें छेद हो, तो क्या होगा? उधर से दूध आता रहेगा और इधर से बहता जाएगा। अत: विश्वास का जो बर्तन है, उसमें छिद्र न हो। इस प्रकार विश्वास का एक रूप बर्तन है।

जो प्रसंग चल रहा है – **अंगद का पैर क्या है?** गोस्वामी जी कहते हैं – **यह विश्वास है।** जब अंगद ने रावण से कहा – तुम या तुम्हारा कोई भी सभासद यदि मेरा पैर उठा देगा, तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा। अंगद का चरण विश्वास है और रावण मोह तथा राक्षस दुर्गुण-दुर्विचार हैं। यदि मोह या दुर्गुण -दुर्विचारों द्वारा विश्वास डिग गया, तो भक्ति की हार हो गई।

बिनु बिस्वास भगति नहिं
तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।। ७/९०क

अंगद जी कहते हैं कि पैर डिगने से मैं सीताजी को हार जाऊँगा और उनका अभिप्राय यह है कि जब मेरा विश्वास डिग जाएगा, मेरी आस्था ही डिग जाएगी, तो सीताजी की, भक्ति की हार तो हो ही जाएगी। और विश्वास डिग गया, भक्ति की हार हो गई, तो भगवान तो चले ही जाएँगे।

अंगद के इस कथन का अभिप्राय यह है कि **परिस्थिति चाहे जितनी भी प्रतिकूल क्यों न हो, हमारा विश्वास कभी न डिगे।** किसी ने अंगद से पूछा – आपने ऐसी प्रतिज्ञा करते समय सोचा नहीं? अंगद ने कहा – प्रतिज्ञा मेरी नहीं, स्वयं भगवान की थी, हमने तो केवल दुहरा भर दी। जनक के दूतों ने जब प्रतिज्ञा की, तो अपनी ओर से थोड़े ही की थी, उन्होंने तो बस जनक जी का वाक्य दुहरा दिया था –

बोले बंदी बचन बर सुनहु सकल महिपाल।
पन बिदेह कर कहहिं हम
भुजा उठाई बिसाल ।। १/२४९

भागवत में बड़ा सुन्दर सूत्र आता है, जिसमें भक्ति-मार्ग की एक विशेषता बताई गई है। मार्ग में चलते हुए एक बहुत बड़ी आशंका रहती है कि व्यक्ति गिर न पड़े। लोग कई तरह से गिर पड़ते हैं। आँख कहीं इधर-उधर हुई, तो ठोकर लगेगी और व्यक्ति गिर जाएगा, या कभी तेजी से दौड़े तो गिरने का डर बना रहेगा। ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग में गिरने और चोट लगने की सम्भावना है, लेकिन भक्ति-मार्ग की विशेषता क्या है? भागवत में बड़ी अनोखी बात कह दी गई है और अंगद ने मानो इसी वाक्य को अपने जीवन में धारण कर लिया। – क्या? इस सूत्र के अनुसार यह भक्ति का मार्ग इतना अनोखा है कि यदि कोई आँख मूँदकर दौड़े ...। बड़ी विचित्र बात है, आँख मूँदकर दौड़े, तब तो अच्छा खासा व्यक्ति भी गिर पड़े। आँख खोलकर दौड़ते हैं तो गिर पड़ते हैं, पर –

धावन् निमील्यवान् नेत्रे न पतेत् न स्खलेति वा।

– कोई व्यक्ति आँख मूँदकर भी दौड़े, तो भी भक्ति के इस मार्ग में न तो पतन है, न स्खलन।

अंगद का अभिप्राय क्या है? भगवान से लेकर सन्तों तक ने आँखें मूँदने के लिए कहा – तो मैंने मूँद लीं। – कैसे? – अपना गणित मैंने बिल्कुल नही सोचा कि मेरा चरण उठेगा या नहीं। इसका सांकेतिक अर्थ क्या है? जीवन के मार्ग में जहाँ पुरुषार्थ-प्रधान मार्ग है, वहाँ तो व्यक्ति को निरन्तर सजग रहना होगा। यदि वह सजग-सावधान नहीं रहेगा, तो पतन होने में देर नही लगेगी। कर्ममार्ग में भी पतन है और ज्ञानमार्ग में भी। पर नेत्र मूँदकर दौड़ने का संकेत रामायण में भी सुतीक्ष्ण जी के प्रसंग में बड़ा सुन्दर दिया गया है। सहसा कोई आकर सुतीक्ष्ण जी को खबर देता है कि भगवान राम आ रहे हैं। यह सुनते ही सुतीक्ष्ण जी दौड़ पड़े –

प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा।
करत मनोरथ आतुर धावा।। ३/१०/३

तो – **धावन् निमील्यवान् नेत्रे** – का सबसे बढ़िया उदाहरण है सुतीक्ष्ण जी का चरित्र। सुतीक्ष्ण जी दौड़े, पर दौड़े ही नहीं, आँखें भी मुँद गई। दोनों बातें उनके जीवन में हुई। आगे चलकर लिखा हुआ है – दिखाई देना बन्द हो गया, मार्ग दिखाई नहीं दे रहा है, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम कुछ भी नहीं समझ में आ रहा है। यह भी भूल गए कि मैं कौन हूँ, मुझे कहाँ जाना है, किस दिशा में जाना है, सब कुछ भूल गए –

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।। ३/१०/११

लेकिन बड़ी अनोखी बात हुई न! जब दिखाई देना बन्द हो गया तो बैठ गये।

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। ३/१०/१५

बड़ी सुन्दर बात है। जब हमको अपना लक्ष्य, अपना प्रयत्न न सूझे, जैसे हमें किसी गाँव में जाना है और हम गाँव में न पहुँचे, तो गाँव हमारे पास थोड़े ही आएगा? पर यदि हम भगवान की ओर चलें तो उसमें विशेषता यह है कि भगवान गाँव की तरह जड़ तो नहीं हैं, यदि आप नहीं पहुँचेंगे तो वे ही यह सोचकर आपके पास आ जाएँगे – वह मेरी ओर आ रहा था, नही आ पाया तो हम ही चलें। भगवान ने देखा कि सुतीक्ष्ण द्रौड़े चले आ रहे हैं, तो लक्ष्मण जी से कहा – सुतीक्ष्ण स्वागत करने दौड़े चले आ रहे हैं। लक्ष्मण जी बोले – महाराज, बहुत देर हो गई, वे नहीं आए। तो प्रभु ने कहा – चलो देखें, कहाँ रह गए? गोस्वामी जी कहते हैं – अब दृश्य बड़ा ही विचित्र है। सुतीक्ष्ण जी बैठे हुए हैं, आँखें मुँदी हुई हैं और भगवान सामने खड़े हुए हैं। भगवान राम सुतीक्ष्ण जी का हाथ पकड़कर बार बार कहते हैं – अरे भाई, आँखें खोलो, कहाँ तो स्वागत करने आ रहे थे और कहाँ मैं आ गया हूँ, फिर भी देख ही नही रहे हो। गोस्वामी जी कहते हैं –

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। ३/१०/१७

गोस्वामी जी एक सूक्ष्म संकेत यह देते हैं कि एक भगवान राम तो बाहर दीख रहे हैं, पर वे सुतीक्ष्ण जी से मिलने को इतने उतावले हैं कि उनके हृदय में भी प्रगट हो गये –

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदय हरन भव भीरा।। ३/१०/१४

सामने पहुँचने में तो समय लगेगा, चलना पड़ेगा, लेकिन वे सुतीक्ष्ण जी के हृदय में तो पहले ही प्रगट हो गए थे। सुतीक्ष्ण जी तो भीतरवाले राम में डूबे हुए हैं। अब एक भीतर वाले राम हो गए और एक बाहर वाले राम। भीतरवाले राम के रस में डूबे हुए हैं सुतीक्ष्ण जी और बाहरवाले राम उन्हें जगा रहे हैं। मुनि जी का अभिप्राय मानो यह था कि भीतर के इस दिव्य रस को छोड़कर बाहर कहाँ जायँ। तब प्रभु ने सोचा कि लोक कल्याण के लिए तो मैं अन्तर्यामी बना और लोग केवल भीतर-ही-भीतर देखेंगे तो अवतार लेकर बाहर आने का तो कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। तब भगवान श्रीराम ने –

भूप रूप तब राम दुरावा।
हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा।।
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें।
बिकल हीन मनि फनिबर जैसें।।
आगें देखि राम तन स्यामा।
सीता अनुज सहित सुख धामा।।
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी।
प्रेम मगन मुनिबर बड़ भागी।। ३/१०/१८-२१

सुतीक्ष्ण जी भगवान के चरणों में लिपट जाते हैं। और इससे भगवान की बड़ी विचित्र शोभा हो गई –

मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला।
कनक तरुहि जनु भेंट तमाला।। ३/१०/२४

बड़ी उल्टी उपमा है। मुनि जी से मिलकर भगवान की

शोभा ऐसे बढ़ गई, मानो तमाल का वृक्ष सोने के वृक्ष से लिपट गया हो। तमाल वृक्ष हैं श्रीराम और सोने के वृक्ष हैं सुतीक्ष्ण जी। अब प्रश्न यह है कि सुतीक्ष्ण जी की शोभा राम से बढ़ी या राम की शोभा सुतीक्ष्ण जी से? गोस्वामी जी कहते हैं कि सुतीक्ष्ण जी से राम की शोभा बढ़ी, क्योंकि सुतीक्ष्ण जी मूर्तिमान प्रेम तथा श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं, और ईश्वर की शोभा तो प्रेम से ही बढ़ती है। प्रेम के बिना ईश्वर अपूर्ण लगता है।

इसका अभिप्राय यह है कि अब हमारा प्रियतम चैतन्य है, आँख मूँद लेने का तात्पर्य यह है कि पूरा विश्वास कर लिया। यह एक विलक्षण बात है विश्वास के मार्ग से चलने के लिए – हम अपनी बुद्धि से नहीं सोचेंगे, अपनी दृष्टि से नहीं देखेंगे, अब तो पूरी तौर से आपकी ओर चल रहे हैं, अब ऐसी स्थिति में इस मार्ग में गिरेगा तो कौन गिरेगा? यदि भक्ति के मार्ग में चलता हुआ भक्त गिर जाए तो? जब हनुमान जी का प्रभु से मिलन हुआ, तब उन्होंने प्रभु और लक्ष्मण जी से प्रार्थना की – आप दोनों मेरे पीठ पर बैठकर जाइए। प्रभु ने मुस्कुराकर लक्ष्मण को संकेत किया – "इतना अच्छा बोझ ढोनेवाला नहीं मिलेगा, हम दोनों का भार ले रहा है। ऐसे अवसर का लाभ अवश्य उठाना चाहिए। ऐसा भक्त कहाँ मिलेगा?" हनुमान जी ने मुस्कुराकर दोनों को कन्धों पर उठा लिया। पर वे बोले – प्रभो, पहले निर्णय हो जाय कि भार किसने उठाया? प्रभु बोले – तुमने उठाया। बोले – नहीं प्रभु, आप ध्यान रखिए, मैंने जान-बूझकर आपको पीठ पर बैठाया है। – क्यों? बोले – "पहाड़ पर चढ़ना है। परन्तु जब आप इनती दूर चलकर आए हैं, तो पहाड़ पर भी चढ़ सकते हैं। मगर मुझे चिन्ता यह हो गई कि मुझे भी तो पहाड़ पर चढ़ना है। और चढ़ने में सबसे बड़ा डर यह है कि जरा भी पैर फिसला कि व्यक्ति नीचे गिर जाता है। लेकिन पहाड़ पर चढ़नेवाला यदि किसी को अपनी पीठ पर बैठा ले, तो जितनी चिन्ता चढ़नेवाले को नहीं होती, उससे अधिक चिन्ता पीठ पर बैठनेवाले को होती है कि यह कहीं गिरा, तो सारी चोट मुझे ही तो लगेगी। इसलिए महाराज, जरा सोचिए कि कितनी बड़ी चिन्ता का भार मैंने आपको दिया कि हनुमान गिरेगा, तो चोट आपको लगेगी।"

इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त का यदि पतन हो जाय, तो क्या होगा, इसकी चिन्ता भगवान करें। क्योंकि इससे चोट तो भगवान को ही लगेगी। लोग कहेंगे – कैसे भगवान हैं, अपने भक्त को पतन से नहीं बचा पाए। इसलिए इस मार्ग से भक्त समग्र रूप से समर्पित हो गया है। अब दौड़ने का क्या अर्थ है? जहाँ बेचैनी है, पाने का उतावलापन है। और आँख मूँद लेने का तात्पर्य है, भगवान में पूरी तौर से विश्वास। परिणाम यह होता है कि वहाँ पर पतन और स्खलन यदि किसी का होता है तो वह भगवान का ही माना जाएगा। अंगद से पूछा गया – आप निश्चिन्त क्यों थे? बोले – "जब शास्त्र कहते हैं, मुनि-महात्मा कहते हैं, भगवान कहते हैं कि इस मार्ग में स्खलन नहीं होता, तब चिन्ता किस बात की?"

समुझि राम प्रताप कपि कोपा।
सभा माझ पन करि पद रोपा।। ६/३४/८

अंगद की इतनी अचल आस्था है और उस आस्था का परिणाम यह होता है कि अंगद का पतन नहीं हुआ। अंगद के पैर को खींच लेने का अर्थ होता, अंगद का नीचे गिर जाना। भक्त कभी नहीं गिरता। **जिसने भगवान पर सारा भार दिया हुआ है, जिसने भगवान को सारा विश्वास सौंप दिया है, वह भक्त कभी नहीं गिरता।** अंगद से किसी बन्दर ने पूछा – "जब आपने अपना पैर रोप दिया, तब आपको कैसा लग रहा था? एक ओर अकेले आप और दूसरी ओर इतने सारे राक्षस, सब मिलकर आपका पैर उठा रहे थे।" अंगद ने कहा – "तुम लोग कह रहे हो कि मैं अकेले था, पर मैं अकेले कहाँ था? अरे, हनुमान जी मेरे पैर को कसकर पकड़े हुए थे और पृथ्वी भी मेरे पैर को जोर से पकड़ी हुई थी, लंका भी मेरे पैर को पकड़े हुए थी, क्योंकि हनुमान जी ने रावण की सभा में घोषणा कर दी थी –

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू।। ५/२३/१

जब हनुमान जी कह चुके हैं कि भगवान की कृपा से जीव का पद अचल हो जाता है, पर यहाँ तो तीनों एक साथ हैं, भक्ति, भक्त और भगवन्त। तीनों में से एक भी मिल जाय, तो वह अचल हो जाय, पर यहाँ तो तीनों मिल गए अंगद के पक्ष में। भक्तिरूपा सीता-माँ चिन्ता करें, क्योंकि मैंने दाँव पर तो उन्हीं को लगा दिया, अत: चिन्ता उन्हीं को होनी चाहिए। या फिर चिन्ता भगवान को होनी चाहिए, जिनकी वे प्रिया हैं, या चिन्ता हनुमान जी करें कि उनका वचन मिथ्या न हो जाय। जहाँ इतने लोग चिन्ता करनेवाले हैं, वहाँ मैं काहे की चिन्ता करूँ? मैं तो निश्चिन्त था।"

मानो संकेत यह था – अरे भाई, मेरा पैर कैसे हटता, भले ही उधर से इतने राक्षस थे; परन्तु जब महाकाल शंकर जी, महाशक्ति सीताजी और साक्षात् ईश्वर भगवान राम – जब ये तीनों बचाने में लगे हों, तो डिगने और गिरने की सम्भावना कहाँ है। अंगद को भगवान की महिमा पर सच्चा विश्वास था, सन्त की वाणी पर सच्चा विश्वास था और अन्त में जो उन्होने विजय प्राप्त की वह विश्वास की विजय है। मानो इसका सांकेतिक अभिप्राय यही है कि यह भक्ति-विश्वास का जो परम लक्ष्य है, उस विश्वास के साथ जो समस्याएँ आती हैं, उनसे बचकर जब हमारा विश्वास अडिग हो जाता है, अचल हो जाता है, तब वह कभी नीचे की ओर नही आता। तब ऐसी परिस्थिति में यही भगवान की विजय है, भक्ति की विजय है और इसलिए यह अंगद की विजय है। ❖ **(समाप्त)** ❖

जीने की कला (२६)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

बनारस में मृत्यु, पेरू में पुनर्जन्म !

दक्षिण अमेरिका में स्थित पेरू के घने जंगलों में अयामारा इंडियन आदिवासी रहते हैं। ये इतने आदिम हैं कि अपने देश का नाम तक नहीं जानते, यह भी नहीं जानते कि स्पेनिश उनकी राष्ट्रभाषा है। उनके गाँव में चर्च चलाने के लिए लीना से एक पुरोहित आया करते थे। उस क्षेत्र में वे ही एकमात्र शिक्षित व्यक्ति थे। एक बार एक अयामारा दम्पति एक ६ वर्ष के सुन्दर पुत्र के साथ आए और बोले, "इस बालक को किसी भूत ने पकड़ लिया है। यह कहता है कि इसके माता-पिता बनारस में हैं और यह वहाँ जाने के लिए हठ कर रहा है।" पुरोहित ने बच्चे से पूछा, "बनारस कहाँ हैं?" बालक ने बेहिचक उत्तर दिया, "भारत में।" वह अपने ब्राह्मण माता-पिता का नाम तथा बनारस में उनके रहने की गली के बारे में बताने लगा। बच्चा बोला, "मेरे पिताजी ने मेरे सातवें जन्मदिवस पर एक खिलौने की कार देकर मुझे खेलते समय सड़क पर न जाने की चेतावनी दी थी। पर उस चेतावनी की उपेक्षा करके मैं सड़क पर गया और एक कार से दबकर मर गया। मैं अपने घर लौट जाना चाहता हूँ।" सात की वर्ष की आयु में कार से दबकर मर जाने के बाद, अब ठीक सात वर्ष की आयु में वह बनारस में अपने माता-पिता के पास लौट जाना चाहता था।

पुरोहित आश्चर्यचकित रह गया। परन्तु साथ ही वह आश्वस्त था कि उस बालक में कोई कृत्रिमता या अभिनय नहीं है। उसने यह सारा विवरण लीना के अपने वकील मित्र आगस्टो को भेंज दिया, जो परा-मनोविज्ञान में गहरी रुचि लेता था। आगस्टो ने उस पते पर रहनेवाले लोगों के नाम और बालक के माता-पिता का विवरण माँगते हुए बनारस की नगरपालिका को एक पत्र लिखा। उसने बताया था कि उसके पास उस परिवार के लिए कुछ काफी महत्त्वपूर्ण जानकारी है। कुछ महीनों बाद उसे उत्तर मिला। आश्चर्य की बात यह कि उस पते पर वही ब्राह्मण परिवार रहता था। यह भी सच था कि उसके सात वर्षीय पुत्र की मृत्यु कार-दुर्घटना में हो गई थी। उनका विवरण पेरू में उस बालक द्वारा दिए गए उस विवरण से पूर्णत: मिलता था। पुरोहित ने इस घटना को लीना के एक समाचारपत्र में प्रकाशित किया।

जीन बगलर ने इस घटना के विषय में तिरुवन्नामलै के रमणाश्रम के मासिक पत्र 'माउंटेन पाथ' (वर्ष १९६६, सं.३) में 'गंगा से अमेजन तक' शीर्षक एक लेख लिखा। उसने यह भी लिखा, "चूँकि मैने लीना छोड़ दिया, इसलिए बाद में क्या हुआ, यह मैं नहीं जानता। यह घटना १९४६ में घटी थी।"

अविश्वसनीय होने पर भी यह घटना सच्ची है।

जन्म और उसके पूर्व[१]

अमेरिकी मनोवैज्ञानिक चैम्बरलेन 'जन्म और उसके पूर्व' नामक अपनी पुस्तक में कहते हैं कि नवजात शिशु अपने अनुभवों और अपने चारों ओर हो रही घटनाओं को समझने में समर्थ होते हैं। उन्होंने अपने प्रयोगों के आधार पर यह पाया है कि शिशु जन्म के दौरान चिकित्सको द्वारा प्रयुक्त उपकरणों से हुई असुविधा को महसूस कर सकते हैं। वे ऊपर उठाने, निद्रा से हिलाकर जगाने का अनुभव कर सकते हैं। ऐसे अध्ययनों में गहराई से डूबे रहनेवाले चैम्बरलेन ने अपनी पुस्तक में ऐसी करीब १०० घटनाओं का वर्णन किया है। कुछ लोगों ने सम्मोहन की अवस्था में चैम्बरलेन के सम्मुख अपने जन्म का विस्तार से वर्णन किया था।

स्टुअर्ट नामक एक वयस्क व्यक्ति ने सम्मोहन की अवस्था में अपने जन्म का वृत्तान्त बताया था। उसका सार निम्न है –

"मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो मुझे चारों ओर से धक्का देकर गर्भ से नीचे की ओर ढकेला जा रहा था। मैं गर्भ की दीवाल पर पाँव नहीं चला पा रहा था, पॉव चलाने से मुझे ही पीड़ा होती थी। इसलिए मैंने घुटने मोड़ लिए। मुझे सिर पर दबाव का अनुभव हुआ। कोई मुझे नीचे ठेल रहा था। परन्तु मैं हिल-डुल नहीं सकता था। मेरे जबड़ों में दर्द हो रहा था। चिकित्सक मेरा कन्धा पकड़कर खींच रहा था। मैं बाहर नहीं आ सकता था। चिकित्सक बार बार कह रहा था, "धक्का दो।" मेरी माँ केवल रोती जा रही थी। उसे जरा भी आराम नहीं मिल रहा था। मॉ का शरीर कड़ा और तना हुआ था। मेरा शरीर भी तना हुआ था। चिकित्सक अधीर था। चिकित्सक द्वारा अपेक्षित गति से मैं बाहर नहीं आ रहा था। वह मुझे सॉस लेते देखने के लिए व्यग्र था। अब मेरा कन्धा बाहर निकल आया था। मेरा शरीर अब पहले जैसा कठोर नहीं रहा। अब चिकित्सक पहले जैसी कठोरता से मुझे नहीं खींच

१. *Birth and Before, What people say about, in Hypnosis* – डेविड चैम्बरलेन (एक मनोचिकित्सक)। 'डेक्कन हेराल्ड' अखबार में प्रकाशित उक्त पुस्तक की बेथ अन्ना क्रायर कृत समीक्षा का यह संक्षिप्त रूप है।

रहा था। परन्तु वह कहता जा रहा था कि मुझे जल्दी बाहर आना चाहिए। परन्तु मैं जल्दी नहीं निकल पा रहा था। मुझे फिर पकड़ लिया गया। चिकित्सक कहता है कि मैं हाथ-पाँव फैला नहीं रहा हूँ। मैं इसे नहीं समझ पाता।''

सन् १९७५ में डॉ. चैम्बरलेन गर्भस्थ भ्रूण के जीवन और जन्म की स्मृतियों के विषय में रुचि लेने लगे। उनके अपने ही एक रोगी ने उन्हें इस अध्ययन हेतु प्रेरित किया। सम्मोहन अवस्था में उक्त रोगी ने अपने जन्म और शैशवकाल की घटनाओं का स्पष्ट रूप से वर्णन किया। दो माह बाद उन्हें पता चला कि सैनफ्रांसिस्को के डॉ. डेविड बी. चीक विगत २० वर्षों से इसी तरह के एक अध्ययन में लगे हुए हैं। उनके लेखों को पढ़ने के बाद डॉ. चैम्बरलेन यह जानकर आश्वस्त हो गए कि उनका शोध सही रास्ते पर चल रहा था।

'सम्मोहन के द्वारा मनोचिकित्सा' नामक ग्रन्थ के लेखक डॉ. डेविड बी. चीक 'चिकित्सकीय सम्मोहन-विद्या के अमेरिकी समिति' के अध्यक्ष थे। उनकी राय में नवजात शिशु अपने परिवेश को भलीभाँति समझते हैं। विशेषज्ञ लोग पहले ही इस विषय में जान गए थे। कभी कभी नवजात शिशुओं को उनकी माँ को बताए बिना ही प्रसूतिगृह से हटा दिया जाता है। डॉ. चीक कहते हैं कि दत्तक के रूप में ग्रहण करने हेतु हटाए गए शिशु अपनी माँ से बिछुड़कर विशेष दुखी थे। दीर्घकालीन अध्ययन के बाद उन्होंने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले –

१. जन्म लेते ही शिशु अपनी माँ से यह अपेक्षा रखता है कि वह उससे या उसके विषय में बातचीत करेगी। 'गोद' के रूप में दिये जाने हेतु निर्धारित शिशु अपनी माँ की स्नेहपूर्ण वाणी और स्पर्श का सुख नहीं ले पाते। ऐसे प्रसव के समय माँ प्रायः बेहोशी की अवस्था में रहती है अथवा शिशु का जन्म होते ही उसे अलग कक्ष में रख दिया जाता है। इस प्रकार शिशु अपनी माँ के सान्निध्य से वंचित रह जाता है।

२. अपनी माताओं को प्रसव-पीड़ा से चिल्लाते-कराहते देखनेवाले शिशुओं में माँ की इस पीड़ा हेतु उत्तरदायी होने की अपराध-भावना उत्पन्न हो जाती है। जब शिशु को यह महसूस होने लगता है कि वह अपनी माँ के लिए सुख और आनन्द का स्रोत बन गया है, तो वह अपराध-भावना से मुक्त होकर शान्त हो जाता है।

३. गोद लिए गये या अन्य शिशुओं को जब नर्सरी (संवर्धन-गृह) में ले जाया जाता है, तो वे इस बात का ठीक ठीक ढंग से अनुभव कर पाते हैं कि लोग उन्हें स्नेह की दृष्टि से देखते हैं या नहीं। एक साथ रखे गए शिशु अपनी भावनाओं का आदान-प्रदान करना जानते हैं। जब सम्मोहित व्यक्तियो को अपनी शैशवास्था की स्मृति आई, तो उन्हें नर्सो का मृदु स्वर और स्नेहिल स्पर्श याद आ गया था।

४. किसी अनाथालय या विशेष नर्सरी से, 'गोद' के रूप में नये माता-पिता के पास ले जाए जाने से पूर्व शिशुओं में असन्तोष व क्रोध उत्पन्न हो जाता है। अपनी माँ के वात्सल्य प्रेम से वंचित शिशुओं को नए वातावरण और नए प्रकार के लोगों के साथ सामंजस्य बैठा पाना कठिन हो जाता है।

''पहले के विशेषज्ञों का विश्वास था कि नेत्र, श्रवणेन्द्रिय या तंत्रिका तंत्र के उचित विकास के पूर्व कोई शिशु देखी या सुनी हुई बातों को याद नहीं रख सकता। ऐसा भी विश्वास था कि कुछ शिशुओं में पाई जानेवाली विशेष शक्तियाँ संयोग मात्र ही थीं। परन्तु इस विचार के विपरीत अनेक साक्ष्य मिले। हम शैशवकालीन स्मृतियों के बारे में कही जानेवाली बातों को सत्यापित करने में सफल रहे हैं।'' डॉ. चीक आगे कहते हैं कि सम्मोहन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जन्म का अनुभव मन के अवचेतन स्तर में छिपा रहता है और सम्मोहन के द्वारा इसे पुनः सक्रिय बनाया जा सकता है।

अभी हाल ही में मनोवैज्ञानिकों ने खोज किया है कि जन्म तथा शैशव में होनेवाली परेशानियाँ तथा संत्रास मन के गहन स्तरों में संचित रहती हैं और वयस्क होने पर वे कई तरह के मानसिक संघर्षों और चिन्ताओं का कारण बनती हैं। सर्जन द्वारा शिशु के सिर को चिमटी से पकड़कर हिलाने-डुलाने के कारण सम्भव है उसकी वयस्क अवस्था में अध-कपारी की पीड़ा होती हो। एक अन्य मामले में, जन्म के समय उसकी माँ तथा वहाँ एकत्र अन्य लोगों द्वारा व्यक्त चिन्ता और भय के परिणाम उसकी वयस्क अवस्था में दमे के रूप में प्रकट हुआ था। माँ द्वारा शिशु को स्तनपान न कराने से बड़े होने पर उसे अपच हो गयी। जन्म के समय एक चिकित्सक द्वारा निर्मम आलोचना से वयस्क होने पर उसमें स्नायु-दुर्बलता आ गयी।

डॉ. चैम्बरलेन ने डॉ. चीक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को सत्यापित करने का प्रयास किया। जो लोग भौतिक विज्ञान की वर्तमान धारणाओं के आधार पर चीजों का मूल्यांकन करने के अभ्यस्त हैं, उनके लिए यह बात स्वीकार करना कठिन है कि शिशु जन्म से ही चिन्तन और अनुभव कर सकता है। डॉ. चेम्बरलेन कहते हैं, ''हमारे प्रयोग का विषय मन था। यह जरूरी नहीं कि स्मृति मस्तिष्क के विकास पर निर्भर रहे। मन हर व्यक्ति का एक अभौतिक पहलू है।''

पिछले जन्म की भाषा

लॉरेन्ट हे अपने माता-पिता की इकलौती पुत्री थी। अभी वह ७ वर्ष की भी नहीं थी। माता-पिता के कार्यवश बाहर चले जाने पर, वह घर में अकेली ही रहती थी। वह अपने में ही कुछ गुनगुनाकर गाने की अभ्यस्त थी। उसके माता-पिता ने उसे अपरिचित भाषा में बोलते हुए भी सुना। उन्होने सोचा कि वह केवल निरर्थक बोलती थी। एक बार एक पुरोहित

उनके घर आया। वह उस बालिका की बातें सुनकर विस्मित रह गया। वह पुरोहित दीर्घकाल तक पूरब में रहने के बाद हाल ही में लौटा था। माता-पिता ने पुरोहित को नाश्ते पर बुलाया था। नाश्ते के समय उन लोगों से बातें करते समय पुरोहित ने उस बालिका का गाना भी सुना। थोड़ा पास जाकर ध्यानपूर्वक सुनने पर वह विस्मित होकर पूछने लगा, "लॉरेन्ट ने फारसी भाषा कहाँ से सीखी।" लॉरेन्ट के माता-पिता ने विस्मित होकर कहा, "फारसी!" वे स्तब्ध रह गए। पुरोहित ने कहा, "उसका गाना आधुनिक फारसी भाषा का नहीं, अपितु प्राचीन काल की फारसी भाषा का है।"

लॉरेन्ट के माता-पिता इस बात पर विश्वास नहीं कर सके। उनके सभी रिश्तेदार पाश्चात्य देशों के ही थे। फारसी जानने वाला कोई व्यक्ति उनकी पुत्री से कभी मिला भी नहीं था। वे यह विश्वास नहीं कर सके कि उनकी पुत्री फारसी बोल सकती है। जब वह गुनगुना रही थी, तभी उन लोगों ने उस गाने को रेकार्ड कर लिया। वह रेकार्डिंग भाषाविदों को सुनाई गई। उन लोगों ने कहा, "ये गाने फारसी की देहाती बोलचाल में हैं। ये गाने प्राचीन फारसी में हैं। उस बालिका से इस सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसने कहा, "पहले हम दूर के देश में ऐसे ही बोला करते थे।"

सामान्य जाग्रत अवस्था में हर व्यक्ति बचपन में सीखी गई भाषा बोलता है। परन्तु ऐसे कई उदाहरण मिले हैं, जिनमें कुछ लोग सम्मोहित अवस्था में ऐसी विदेशी भाषाएँ बोलते हैं, जिन्हें उन्होंने पहले कभी सीखा या सुना नहीं था। वे उस भाषा के केवल कुछ शब्द या वाक्यांश ही नहीं, अपितु उसमें धाराप्रवाह बोलते हैं। वे सम्मोहन की अवस्था में उसी भाषा में स्वच्छन्द वार्तालाप और प्रश्नों के उत्तर भी देने की सामर्थ्य रखते है। वे जो भाषा बोलते हैं, वह पहले किसी विशिष्ट क्षेत्र में प्रचलित थी। अतीत जीवन के अनुभवों को परवर्ती जीवन में धारण करने के कारण ही ऐसा सम्भव है। पुनर्जन्म के तत्त्व का यह एक अन्य प्रमाण है। मान लीजिए कि इंग्लैंड के जॉन फॉक्स सम्मोहन की अवस्था में कन्नड़ भाषा बोलने लगे। तो वह दक्षिण कन्नड़ जिले के कुण्डपुर क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में बोली जानेवाली कन्नड़ भाषा हो सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जॉन कभी कुण्डपुर के निवासी थे और उनका नाम नागप्पैया कारंत या विट्ठल शेट्टी था। सम्मोहन की अवस्था में व्यक्ति को अपने पिछले जन्म के नाम, पते, जाति, व्यवसाय और अन्य विवरण याद आ सकते हैं। इसे responsive xenoglossy (सक्रिय अज्ञात भाषा-ज्ञान) कहा जाता है। स्टिवेंसन ने अपनी पुस्तक में ऐसी अनेक घटनाएँ दी हैं।

परमहंस श्रीरामकृष्ण

डॉ. हरिवंश अनेजा

हे परमहंस श्रीरामकृष्ण !
स्वीकार करो शतशः प्रणाम ।
अवतरित तुम्हारे होने पर,
कृतकृत्य हो गया धरा-धाम ।।

अवतीर्ण हुए तुम धरती पर,
जग से जड़वाद मिटाने को ।
अज्ञान-तिमिर हर, ज्ञान-ज्योति
आए तुम स्वयं जलाने को ।।

नाना धर्मों को अपनाकर,
जाना उन सबका तत्त्व एक ।
मन्तव्य एक है उन सबका,
दिखने को यद्यपि हैं अनेक ।।

ईश्वर, ईसा, ओंकार, खुदा,
हैं एक तत्त्व के भिन्न नाम ।
निज अनुभव से कर दिया सिद्ध,
यह तथ्य तुम्हीं ने हे सुनाम !

बन गए नरेन्द्र विवेकानन्द,
तुमसे ही शुभ आशिष पाकर ।
फहरायी जिसने धर्म ध्वजा,
नाना देशों में जा-जाकर ।।

जब जब अधर्म बढ़ता जग में,
तब तब अवतार लिया तुमने ।
कर पुनः प्रतिष्ठित धर्म स्वयं,
जग का उद्धार किया तुमने ।।

सम्मोहन की सहायता

अँग्रेजी मासिक पत्रिका 'मिरर' के सितम्बर, १९८३ के अंक में एक रोचक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें श्री जे. वी. राव सम्मोहन विषयक अपने प्रयोगों का वर्णन करते हैं – "किसी व्यक्ति को सम्मोहित करके उसे उसकी पुरानी आदतों से मुक्त करना सम्भव हो सकता है। एक सम्मोहित पुरुष या स्त्री को उसके पिछले जीवन की घटनाओं को याद करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। कुछ वर्षों पूर्व मैं मुम्बई के अन्धेरी में मंच पर एक कार्यक्रम दे रहा था। उस समय मुझे एक १८ वर्षीया कैथॅलिक बालिका को सम्मोहित करने का मौका मिला था। मैंने उसे उसके पूर्व-जीवन में चले जाने का सुझाव दिया। सहसा वह एक ऐसी भाषा बोल पड़ी, जिसे मैं समझ नहीं सका। मैं तो चकित रह गया। मंच के पास प्रथम पंक्ति में बैठे एक इटैलियन पादरी ने बताया कि वह मुसोलिनी के दिनों में एक विशेष गाँव में बोली जानेवाली इटैलियन भाषा बोल रही थी, जो बाद में लुप्त हो गई। सम्मोहित बालिका ने कहा कि वह पहले एक पुरुष थी। उसने अपने इटैलियन माता-पिता का नाम बताया। वह एक सड़क दुर्घटना मे मारी गयी थी। सामान्य अवस्था आने पर वह सम्मोहित अवस्था में कही गई किसी भी बात को याद नहीं कर सकी। उसने

ईमानदारी के साथ कहा कि वह कभी भारत की सीमाओं से बाहर नहीं गई और वह इटैलियन का एक शब्द तक नहीं जानती। परन्तु अपनी सम्मोहित निद्रा में वह इटैलियन बोली थी। इटैलियन पादरी ने इस बात को सत्यापित कर दिया था। इसमें सन्देह के लिए कोई स्थान न था। सौभाग्यवश उसकी बात को समझने के लिए वे पादरी वहाँ मौजूद थे।'' इस घटना से हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं?

प्रो. राव से पूछा गया कि इस विषय का गहनतर अध्ययन करने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान किए जाने पर क्या ऐसी घटनाएँ प्रमाणित की जा सकती हैं? इस पर प्रो. राव ने कहा, ''निस्सन्देह, यह सम्भव है। अवचेतन मन जन्म से मृत्यु तक की सभी स्मृतियों का भण्डारगृह है। विशेषज्ञ लोग चेतन मन से परे जाकर अचेतन मन को क्रियाशील करते हैं। हममें से हर व्यक्ति सम्मोहित किये जाने पर कमो-बेश पूर्व जीवन के अनुभवों का स्मरण कर सकता है। यह कैसे सम्भव है, यह बात अब भी एक रहस्य है।''

प्रो. राव ने इसी प्रकार की एक अन्य घटना का भी वर्णन किया है – ''एक बार जमशेदपुर में एक प्रदर्शन के समय मैंने एक १३ वर्षीय गुजराती बालक को सम्मोहित किया। जब सम्मोहित बालक से उसके पिछले जीवन के बारे में पूछा गया, तो उसने बतलाया कि पूर्व जीवन में उसका जन्म मुम्बई में हुआ था। उसने जुहू के एक बँगले का पता बताया। उसने बताया कि ९ वर्ष का होने पर वह समुद्र में डूब गया था। सम्मोहित बालक का एक इंजीनियर भाई संयोगवश बाद में मुम्बई गया। उसने यह पता लगाना चाहा कि क्या उसके भाई की बातों में कुछ सत्यांश भी है। वह जुहू गया और अपने भाई के बताए पते के अनुसार बँगले को ढूढ़ने लगा। वह उसका पता नहीं लगा सका, परन्तु आश्चर्य की बात है कि उस मुहल्ले के कुछ लोगों ने कहा कि उस स्थान पर एक बँगला था। इसे कुछ वर्षों पहले बेच दिया गया था और एक नयी इमारत बनाने के लिए पुराने बँगले को ध्वस्त कर दिया गया था। इंजीनियर ने पूछा कि तब उस बँगले में कौन लोग रह रहे थे और वे लोग अब कहाँ रहते हैं? उसे उचित उत्तर नहीं मिल सका। परन्तु एक वृद्ध ने केवल इतना ही बतलाया, 'परिवार के नौ-वर्षीय एक बालक के मर जाने के कारण गृहस्वामियों ने वह बँगला बेच दिया।' ''

जिस प्रकार सरकारी कार्यालयों में प्रत्येक फाइल की गहन जाँच करने के बाद रेकार्ड एकत्र किये जाते हैं, उसी प्रकार यदि अवचेतन मन को उचित ढंग से क्रियाशील किया जाय, तो इससे पिछले जन्मों की बातों का पता लग सकता है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामीजी का सन्देश

जितेन्द्र कुमार तिवारी

युवको, तुम बलवान बनो।
जो होता बलवान
उसी को देता धर्म सहारा,
और सदा बलहीन जगत् में
फिरता मारा मारा।
गीता-पाठ करो पर पहले
तन मजबूत बनाओ,
स्वस्थ रहोगे तब तो होगा
मन भी स्वस्थ तुम्हारा।
वज्र-सदृश बलवान बनो,
मानवता की शान बनो।
युवको, तुम बलवान बनो।

वही स्वर्ग के अधिक निकट
होता जो ताकत वाला,
जीवन में मैंने तो ऐसा
ही है देखा-भाला।
जान रहा हूँ मैं कमजोरी
कहाँ कहाँ है तुममें,
इसीलिए मैं नहीं लगाता
अपने मुँह पर ताला।
कहता तुम सज्ञान बनो,
और गुणों की खान बनो।

सुदृढ़ बनोगे तब जानोगे
तुम गीता की वाणी,
होगी तुममें कृष्ण सरीखी
प्रतिभा भी कल्याणी।
स्वावलम्ब से ही बन पाओगे
तुम मानव सच्चे,
और पिघलकर बह जाएगी
जड़ता भी पाषाणी।
दृढ़ मनु की सन्तान बनो,
वीरों की पहचान बनो।
युवको, तुम बलवान बनो।

हितोपदेश की कथाएँ (१६)

(कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नामक सरोवर में सभी जलचर पक्षियों का राजा हिरण्यगर्भ नामक राजहंस रहता था। जम्बु द्वीप में विंध्य-पर्वत के निवासी पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नामक मोर ने उस पर आक्रमण किया। अपने मंत्री गिद्ध की सहायता से चित्रवर्ण को विजय मिली। उसने किले की सारी धनराशि कब्जे में कर ली। अब चित्रवर्ण मोर ने अपने महामंत्री गिद्ध के सम्मुख अपने प्रधान गुप्तचर मेघवर्ण नामक कौए को कर्पूर द्वीप का राजा बनाने का प्रस्ताव रखा। पर मंत्री ने मना करते हुए राजहंस हिरण्यगर्भ के साथ सन्धि कर लेने की सलाह दी। उधर हिरण्यगर्भ के मंत्री चकवे ने सलाह दिया कि सिंहल द्वीप का राजा सारस जम्बु द्वीप को आतंकित करे, तभी चित्रवर्ण सन्धि के लिए राजी होगा। – सं.)

राजा चित्रवर्ण मयूर ने पूछा – "तुमने राजा हिरण्यगर्भ को कैसे छला?"

मेघवर्ण ने हँसकर कहा – "सुनिए महाराज, उसके मंत्री ने पहली बार देखकर ही मुझे पहचान लिया था, पर राजा बहुत ऊँचे विचार का है। इसी से मैं उसे ठग सका। कहा भी है –

आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम्।
स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा ।।

– 'जो व्यक्ति दुर्जन को भी अपने ही समान सत्यवादी समझता है, वह उसी प्रकार ठगा जाता है जैसे कि धूर्तों ने, बकरा ले जाते हुए ब्राह्मण को ठग लिया था।' "

राजा ने कहा, "वह कैसे?"

मेघवर्ण कहने लगा –

कथा ८

एक ब्राह्मण गौतम ऋषि के तपोवन में यज्ञ करना चाहता था। यज्ञ के लिए उसने एक गाँव से एक बकरा खरीदा और कन्धे पर लादकर ले चला। उसे तीन धूर्तों ने देखा। उन तीनों ने सोचा कि यदि यह बकरा हमारे हाथ लग जाय, तभी हमारी बुद्धि विकसित मानी जाएगी।

बस, वे तीनों एक एक कोस की दूरी पर वृक्षों के नीचे खड़े होकर ब्राह्मण की राह देखने लगे। जब वह ब्राह्मण उनमें से पहले धूर्त से मिला, तो धूर्त ने कहा, "ओ ब्राह्मण देवता, कुत्ते को कन्धे पर लादे क्यों ले जा रहे हो?" ब्राह्मण बोला, "यह कुत्ता नहीं, यज्ञ का बकरा है।" वह आगे बढ़ा तो दूसरे धूर्त ने भी वही बात दुहरायी। यह सुनकर उसने बकरे को जमीन पर उतारा, उसे बारम्बार अच्छी तरह देखा और शंकित चित्त के साथ फिर लादकर चल पड़ा। क्योंकि –

मतिर्दोलायते सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः।
ताभिर्विश्वासितश्चाऽसौ म्रियते चित्रकर्णवत् ।।

– 'कभी कभी दुष्टों की बातों में आकर सज्जनों की बुद्धि भी चंचल हो उठती है। उनकी बातों पर विश्वास करके वे उसी प्रकार मारे जाते हैं, जैसे चित्रकर्ण मारा गया था।' "

राजा ने पूछा – "यह कैसे?"

चकवा कहने लगा –

कथा ९

किसी वन के एक भाग में मदोत्कट नाम का सिंह रहता था। उसके तीन सेवक थे – कौआ, बाघ और सियार। एक दिन वे तीनों वन में घूम रहे थे। तभी उन्हें अपने साथियों से बिछुड़कर वन में भटकता हुआ एक ऊँट दिखाई पड़ा। इन तीनों ने उससे पूछा – "तुम अपने साथियों से बिछुड़कर कहाँ से आ रहे हो?" ऊँट ने उनसे अपनी आपबीती कह सुनाई। इसके बाद उन तीनों ने उसे ले जाकर सिंह को सौंप दिया। सिंह ने उसे अभयदान दिया और चित्रकर्ण का नाम देकर अपने पास रख लिया।

कुछ दिनों बाद – एक दिन सिंह की तबीयत ठीक नहीं थी और उस दिन पानी भी बहुत बरसा था। इस कारण उन तीनों सेवकों को भोजन नहीं मिल सका, इस कारण वे व्यग्र हो उठे। अब उन्होंने सोचा – "कोई ऐसी युक्ति करनी चाहिए कि जिससे राजा सिंह चित्रकर्ण ऊँट को ही मारें। इस कण्टक-भक्षी को रखने का क्या लाभ है!" इस पर बाघ बोला – "स्वामी ने उसे अभयदान देने की कृपा की है। तब भला ऐसा कैसे हो सकता है?" कौए ने कहा – "इस समय स्वामी भी भूख से आकुल हैं, अतः पाप भी कर सकते हैं, क्योंकि –

त्यजेत्क्षुधार्त्ता महिला स्वपुत्रं,
खादेत्क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितो किं न करोति पापं,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।।

– 'भूख से व्याकुल माता अपने बच्चे को भी त्याग देती है। भूखी साँपिन अपने ही अण्डे को खा जाती है। ऐसा कौन-सा पाप है, जिसे भूखा मनुष्य नहीं कर सकता! क्योंकि भूख से व्याकुल मनुष्य निर्दयी हो जाते हैं।' और भी –

मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः।
लुब्धो भीरुस्त्वरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित् ।।

– 'अहंकारी, लापरवाह, पागल, थका, क्रोधी, भूंखा, लोभी, डरपोक, जल्दबाज और कामुक व्यक्ति धर्मज्ञ नहीं हो सकता।'

ऐसा विचार करके वे सभी एक साथ सिंह के पास गए। सिंह ने पूछा – "खाने को कुछ मिला?" उन्होंने उत्तर दिया – "बहुत कोशिश करने पर भी कुछ नहीं मिला।" सिंह बोला – "तो अब जीवन का क्या उपाय होगा?" कौए ने कहा –

"महाराज, अपने पास के भोजन को त्यागने के कारण ही आज हमारी यह दुर्दशा हो रही है।" सिंह ने पूछा – "यहाँ, अपने पास कौन-सा आहार है?" कौए ने कान में कहा – "चित्रकर्ण।" सिंह ने भूमि का स्पर्श करके अपने कान पकड़े और कहा – "हमने उसे अभयदान देकर रखा है, अत: यह भला कैसे हो सकता है कि मैं उसे मारूँ? कहा भी है –

न भू प्रदानं, न सुवर्णदानं
न गोप्रदानं न तथाऽन्नदानम्।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ।।

– 'भूदान, स्वर्णदान, गोदान तथा अन्नदान को भी नहीं, बल्कि सब दानों में अभयदान को ही महादान कहा गया है।' और 'सब प्रकार की सामग्रियों से युक्त अश्वमेध यज्ञ करने का जो फल होता है, उसे भलीभाँति शरणागत की रक्षा करने पर प्राणी अनायास प्राप्त कर लेता है।' "

कौए ने कहा – "प्रभो, आप उसे नहीं मारेंगे। बल्कि हम लोग ऐसा उपाय करेंगे कि जिससे वह स्वयं ही अपना शरीर आपको अर्पित कर देगा।"

यह सुनकर सिंह चुप रहा।

कौए ने जाकर पूरी योजना बनाई और थोड़ी देर बाद ऊँट-सहित सबको साथ लेकर सिंह के पास आया और बोला – "महाराज, बहुत प्रयत्न करने पर भी आहार नहीं मिल सका है। कई दिनों से उपवास करने के कारण आपको बड़ा कष्ट हो रहा है। इसलिए इस समय आप मेरा मांस खाकर प्राणरक्षा कीजिए, क्योंकि जैसे जड़ को पुष्ट करने से ही वृक्ष फलवान होता है, उसी प्रकार राजा के सहारे ही सारी प्रजा जीती है।"

सिंह ने कहा – "मेरे लिए मर जाना अच्छा है, पर ऐसा करना ठीक नहीं।" इसके बाद सियार ने भी वही बात दुहराई। सिंह ने फिर कहा – "ऐसा नहीं हो सकता।" अब बाघ बोला – "तो आप मेरा मांस खाकर अपने प्राण बचाएँ।" सिंह बोला – "यह भी उचित नहीं है।"

अब चित्रकर्ण ऊँट को विश्वास हो गया कि जब स्वामी ने सबको मारने से इनकार कर दिया है, तो मुझे भी नहीं मारेंगे, अत: उसने भी अपना शरीर अर्पण कर देने की बात कही।

ऊँट की बात सुनते ही बाघ ने उसका पेट फाड़कर मार डाला और सभी मिलकर उसे खा गए। इसी से मैं कहता हूँ कि 'धूर्तों की बातों में आकर भले लोगों की बुद्धि भी चंचल हो जाती है' आदि आदि।

इसके बाद तीसरे धूर्त की बात सुनकर ब्राह्मण को विश्वास हो गया कि यह सचमुच ही कुत्ता है। बस, उसने बकरे को वहीं छोड़ा और स्नान करके अपने घर लौट गया। तीनों धूर्त उस बकरे को ले जाकर खा गए। इसी से मैं कहता हूँ कि 'जो व्यक्ति दुर्जन को भी अपने ही समान सबको सत्यवादी समझता है' आदि आदि।

राजा ने कहा – "मेघवर्ण, शत्रुओं के बीच में तुम इतने दिन कैसे रहे और उसके साथ कैसे अपनत्व बनाये रखा?"

मेघवर्ण ने कहा – "स्वामी का अथवा अपना निज का कार्य सिद्ध करने के लिए व्यक्ति क्या नहीं करता? देखिए –

लोको बहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम्।
क्षालयन्त्यपि वृक्षाङ्घ्रि नदीवेला निकृन्तति ।।

– 'राजन्, क्या लोग लकड़ी को जलाने के लिए ले जाते हुए सिर पर नहीं ढोते? क्या नदी की धारा अपने तट के वृक्षों को उखाड़ने के पूर्व उनके चरणों को नहीं धोती?' कहा भी है –

स्कन्धेनाऽपि वहेत्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान्।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिता: ।।

– 'बुद्धिमान को चाहिए कि अपना कार्य सिद्ध करने के लिए वह अपने शत्रुओं को कन्धे पर भी बैठा ले। जैसे कि उस बूढ़े साँप ने मेढकों को सिर पर रखकर फिर उन्हें खा लिया।' "

राजा ने कहा – "यह कैसे?"

मेघवर्ण कहने लगा –

कथा १०

किसी उजाड़ बगीचे में मन्दविष नाम का एक साँप रहा करता था। काफी वृद्ध हो जाने के कारण वह अपने लिए आहार भी नहीं खोज सकता था। अन्त में वह एक तालाब के किनारे लेट गया। दूर से ही किसी मेढक ने उसे देखकर पूछा – "क्यों भाई, तुम अपना भोजन क्यों नहीं खोजते?" साँप बोला – "भाई, जाओ, अपना काम करो। मुझ अभागे से पूछ -ताछ करने की क्या जरूरत? इससे मेढक का कौतुहल और बढ़ गया। वह बार बार आग्रह करने लगा – कुछ तो कहिए।

साँप बोला – "भाई, बात यह है कि ब्रह्मपुर मे रहनेवाले कौण्डिन्य नाम के एक वेदपाठी ब्राह्मण का सद्गुणो से परिपूर्ण बीस वर्ष का एक पुत्र था। दुर्भाग्यवश क्रूर स्वभाव-वाले मैंने उसे काट लिया। सुशील कुमार नामक बेटे को मृत देखकर कौण्डिन्य मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। तब ब्रह्मपुर के उसके सब भाई-बन्धु वहाँ आकर एकत्र हुए। कहा भी है –

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव: ।।

– 'उत्सव, विपत्ति, युद्ध, अकाल, राष्ट्र-विप्लव, राजद्वार और श्मशान में जो साथ देता है, उसी को बान्धव कहते हैं।'

इसी बीच कपिलदेव नाम के एक ब्रह्मचारी ने आकर कहा – "तुम लोग मूर्ख हो, जो ऐसे विलाप कर रहे हो। सुनो –

क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातम् अनित्यता।
धात्रीव, जननी पश्चात्, तदा शोकस्य क: क्रम:?

– 'पैदा होते ही दाई के समान पहले अनित्यता ही प्राणी को गोद में लेती है, माता तो उसे बाद में सँभालती है। तब फिर इस शरीर के विषय में शोक करने की क्या जरूरत?' और –

'विशाल सेना और पराक्रमवाले वे राजा कहाँ गए, जिनके वियोग की साक्षी यह पृथ्वी आज भी पड़ी है।' और फिर –

कायः संनिहितापायः सम्पदः परमापदः ।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ।

– 'देह क्षणभंगुर है, सम्पत्ति विपत्ति का घर है, मिलन वियोग-पूर्ण है और जगत् में उत्पन्न सभी वस्तुएँ विनाशवान् हैं।'

और 'प्रति क्षण इस शरीर का नष्ट होना, वैसे ही नहीं दिखता है, जैसे कि पानी में पड़े हुए कच्चे घड़े का नाश उसके पूरा गल जाने के बाद ही दिखाई देता है।'

'जैसे कि वधभूमि की ओर ले जाया जानेवाला पशु पग पग पर मृत्यु के निकट होता जाता है, वैसे ही मृत्यु दिनो-दिन प्रत्येक प्राणी के समीप आती रहती है।' चूँकि –

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो मुह्येत्तत्र न पण्डितः ।।

– 'यौवन, रूप, जीवन, धन, ऐश्वर्य और प्रियजन का संग – ये सभी अनित्य हैं, अतः बुद्धिमान लोग इनमें नहीं फँसते।'

यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूत-समागमः ।।

– 'जैसे समुद्र में बहते हुए लकड़ी के दो टुकड़े आकर मिल जाते हैं और लहरों के थपेड़े खाकर फिर दूर हो जाते हैं, ठीक वैसे ही संसार के प्राणियो का मिलन-वियोग होता है।'

यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत् तद्वद्भूतसमागमः ।।

– 'जैसे कोई पथिक रास्ते में चलते चलते थककर किसी वृक्ष के नीचे बैठ जाता और थोड़ी देर बाद विश्राम करके फिर चल देता है। इसी तरह संसार के प्राणियों का मिलन-वियोग है।'

पंचभिर्निर्मिते देहे पञ्चत्वं च पुनर्गते ।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते तत्र का परिदेवना ।।

– 'पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु – इन पाँच तत्त्वों के योग से बनी यह काया एक दिन फिर अपने अपने तत्त्वों में जा मिलती है, तो इसके लिए शोक क्यों किया जाय?'

'प्राणी मन को प्रिय लगनेवाले जितने ही अधिक सम्बन्ध जोड़ता है, वह हृदय में उतने ही शोकरूपी कीलें धँसाता है। अर्थात् एक दिन उन्हीं का वियोग शोक उत्पन्न करता है।'

नायमत्यन्त-संवासो लभ्यते येन केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुताऽन्येन केनचित् ।।

– 'कोई भी किसी के साथ बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। जब यह शरीर ही अधिक दिन साथ नहीं देता, तब भला औरों के विषय में क्या कहा जाय।' और –

'जैसे किसी का जन्म ही उसकी अटल मृत्यु को सूचित करता है, वैसे ही मिलन ही वियोग की सूचना देता रहता है।'

आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।
अपथ्यानामिव अन्नानां परिणामोऽतिदारुणः ।।

– 'प्रियजनों से मिलन भी अपथ्य अन्न के समान पहले तो अच्छा लगता है, किन्तु अन्त में दुखदायी हो जाता है।'

'जैसे नदियों का बहाव आगे ही बढ़ता जाता है, पीछे नहीं लौटता, वैसे ही रात और दिन मनुष्यों की आयु लेकर आगे बढ़ते जाते हैं, अर्थात् प्रतिदिन आयु घटती जाती है।'

'इस संसार में सज्जनों का समागम अत्यन्त सुखदायी लगता है, किन्तु अन्त में वियोग निश्चित होने के कारण इसे चरम दुःखदायी भी माना जाता है। इसी कारण सज्जन लोग भी सज्जनों का समागम पसन्द नहीं करते, क्योंकि उनके वियोग रूपी तलवार से घायल मन की कोई दवा नही होती।'

'सगर आदि राजाओं ने बड़े बड़े पुण्य-कर्म किये, परन्तु अन्त में वे और उनके पुण्य-कर्म – दोनों ही नष्ट हो गए।'

'उग्र दण्ड रूपी मृत्यु को सोचते हुए विचारशील मनुष्य के सभी प्रयत्न वैसे ही शिथिल हो जाते हैं, जैसे कि वर्षा के पानी से भीगी हुई चमड़े की ताँत ढीली पड़ जाती है।'

'मनुष्य जिस रात गर्भ में प्रवेश करता है, तभी से वह अबाध गति से प्रतिदिन मृत्यु की ओर अग्रसर होता रहता है।'

"अतः संसार की ओर देखो। यह शोक अज्ञान का फल है। देखो – 'यदि अज्ञान नहीं, बल्कि वियोग ही शोक का कारण होता, तो ज्यों ज्यों दिन बीतते त्यों त्यों शोक बढ़ता रहता, पर ऐसा नहीं होता। ज्यों ज्यों दिन बीतते हैं, त्यों त्यों शोक घटता है, बढ़ता नहीं। इससे ज्ञात होता है कि शोक का कारण वियोग नहीं, अज्ञान ही है। इसलिए अब आत्मा की खोज करो और शोक की बात छोड़ दो। क्योंकि –

अकाण्डपातजातानां गात्राणां मर्मभेदिनाम् ।
गाढशोकप्रहाराणाम् अचिन्तैव महौषधम् ।।

– 'बिना किसी शस्त्र के शरीर और हृदय को विदीर्ण करने वाले प्रगाढ़ शोकरूपी आघात की सबसे उत्तम औषधि यह है कि उसके विषय में कुछ सोचा ही न जाय।' "

उसकी बात सुनकर कौण्डिन्य जैसे सोते से जाग पड़ा और उठकर कहने लगा – "तब इस गृहरूपी नरक में रहना ही व्यर्थ है। अब मैं वन को जा रहा हूँ।"

कपिल ने फिर कहा –

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृतरागस्य गृहं तपोवनम् ।।

– 'वन में भी विषयी लोगों के मन में बुरे विचार आते रहते हैं और घर में रहकर भी (नेत्र, कर्ण, त्वचा आदि) पाँचों इन्द्रियों को वश में लाने की तपस्या हो सकती है। जो व्यक्ति कार्यों में लगा रहता है और जिसके हृदय से आसक्ति दूर हो गयी है, उसके लिए घर ही तपोवन के समान है।' क्योंकि –

दु:खितोऽपि चरेद् धर्मं यत्र कुत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्॥

– 'व्यक्ति चाहे दु:ख में भी हो, चाहे किसी भी आश्रम में हो, सभी प्राणियों के प्रति समान भाव से अपने धर्म का पालन करता रहे; संन्यासी का वेश लेने मात्र से ही धर्म नहीं होता।'

वृत्त्यर्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम्।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यपि तरन्ति ते॥

– 'जो लोग जीवित रहने मात्र के लिए भोजन, सन्तान मात्र के लिए मैथुन और सत्य बोलने के लिए ही वाणी का प्रयोग करते हैं, वे बड़ी बड़ी कठिनाइयों से भी पार हो जाते हैं।'

आत्मा नदी संयम-पुण्य-तीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा॥

– 'आत्मारूपी पवित्र नदी के संयम तथा पुण्यरूपी तीर्थ हैं, उसमें सत्यरूपी जल भरा है, शील उसका घाट है, दया उसकी तरंगे हैं। हे युधिष्ठिर, तुम उसी नदी में स्नान करो। इस लौकिक जल से तुम्हारी अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होगी।'

जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम्।
संसारम् इममुत्पन्नम् असारं त्यजतः सुखम्॥

– 'जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और नाना प्रकार की वेदनाओं से भरे हुए इस असार संसार को त्यागने में ही आनन्द है।''

दु:खमेवास्ति न सुखं यस्मात् तदुपलक्ष्यते।
दु:खार्त्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते॥

– 'इस संसार में केवल दुख-ही-दुख है। दुख-पीड़ित व्यक्ति द्वारा दुख को दूर करने का प्रयास ही सुख कहलाता है।' ''

इस पर कौण्डिन्य ने कहा – ''तुम्हारा कहना ठीक है।''

इसके बाद उस शोकाकुल ब्राह्मण ने मुझे (सर्प को) श्राप दिया – ''आज से तुम मेढ़कों की सवारी बनकर रहोगे।''

कपिल बोला – ''इस समय तुम उपदेश की बात नहीं सुन सकोगे, क्योंकि तुम्हारे हृदय में शोक समाया है। तो भी तुम्हें जो करना उचित है, सो सुनो।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥

– 'जहाँ तक हो सके, इस संसार में संग का बिल्कुल परित्याग कर दो। यदि ऐसा न कर सको, तो सज्जनों का संग करो, क्योंकि वही संसार-रोग की उत्तम औषधि है।'

''यह सुनकर, कपिल के उपदेश रूपी अमृत से कौण्डिन्य की शोकाग्नि शान्त हो गई और उसने विधिवत् संन्यास ले लिया। उसी ब्राह्मण के शाप से आज मैं मेढकों को सवारी देने आया हूँ। इसके बाद उस मेढक ने जाकर मेढकों के राजा जालपाद से यह बात कही। इस पर मेढकों का राजा आया और साँप की पीठ पर चढ़ गया। और साँप उसे पीठ पर बैठाकर विचित्र ढंग से कुछ देर तक इधर-उधर घुमाता रहा।

दूसरे दिन फिर मण्डूकराज पीठ पर चढ़ा तो साँप बहुत धीरे धीरे आगे बढ़ा। इस पर राजा जालपाद ने कहा – ''आज आप धीरे धीरे क्यों चल रहे हैं?''

साँप ने कहा – ''महाराज, मैं भोजन न मिलने के कारण दुर्बल हो गया हूँ।''

मण्डूकराज ने कहा – ''मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम मेढकों को खाओ।''

साँप ने कहा – ''आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।''

यह कहकर उसने धीरे धीरे तालाब के सभी मेढकों को खा लिया। तालाब के खाली हो जाने पर वह मण्डूकराज को भी चट कर गया। इसी से मैं कहता हूँ – अपना काम बनाने के लिए शत्रुओं को भी कन्धे पर ढोवे आदि। अब बीती बातें दुहराने की आवश्यकता नहीं। राजा हिरण्यगर्भ हर तरह से सन्धि करने योग्य है। इसलिए इसके साथ सन्धि कर लीजिए। मेरी यही सम्मति है।''

राजा चित्रवर्ण ने कहा – ''आपका यह कैसा विचार है? मैंने उसे जीता है। इसलिए यदि वह मेरा सेवक बनकर रहना चाहे, तो भले ही रहे, नहीं तो लड़े।''

तभी जम्बु द्वीप से गुप्तचर तोते ने आकर कहा – ''महाराज, सिंहलद्वीप के सारस ने जम्बूद्वीप पर चढ़ाई कर दी है।''

राजा ने घबड़ाकर कहा – ''क्या?''

तोते ने फिर अपनी बात दुहरायी। गिद्ध ने मन-ही-मन कहा – ''वाह मंत्री चक्रवाक, वाह ! तुमने बहुत ठीक किया।''

राजा ने क्रोधपूर्वक कहा – ''अच्छा, अब इसे जाने दो। मैं जाकर उसी को समूल नष्ट करता हूँ।''

दूरदर्शी गिद्ध ने हँसकर कहा – ''शरत्कालीन मेघ की तरह गरजना ठीक नहीं है। बड़े लोग शत्रु के अर्थ या अनर्थ की बात जिह्वा पर नहीं लाते। और – 'राजा को चाहिए कि एक साथ कई हमलावरों के साथ युद्ध न करे, क्योंकि बहुत-से कीड़े एक साथ मिलकर बलवान साँप को भी समाप्त कर देते हैं।' महाराज, क्या आप बिना सन्धि किये यहाँ से जाना उचित समझते हैं? क्योंकि यहाँ से हमारे जाने के बाद वह फिर आक्रमण करेगा। और फिर –

❖ (क्रमशः) ❖

मानवता की झाँकी (८)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओं को हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

समर्पित जीवन -
फरीदपुर के वैद्यराज

फरीदपुर बंगाल का एक छोटा-सा शहर (अब बँगला देश में) है – सुन्दर स्वच्छ। बंग-भंग के विरोध में जब आन्दोलन हुआ था, तब फरीदपुर-निवासियों ने भी उसमें उत्साहपूर्वक भाग लेकर अँग्रेज सरकार को काफी परेशान किया था। बड़े बड़े विद्वान् और मातृभूमि की सेवा में सर्वस्व होम कर देनेवाले भी यहाँ बहुत पैदा हुए, जिन्होंने बंगाल का गौरव बढ़ाया।

(१९२३ ई. में) विशेष आमंत्रण पाकर संन्यासी परिव्राजक एक बार फरीदपुर गया और कुछ दिन एक आश्रम में ठहरा। उस आश्रम के सामने की सड़क के पार एक मैदान-सी जगह, उसकी सीमा पर एक काफी बड़ा मकान, बंगाल के खास ढंग का, ऊपर घास-फूस से छाया हुआ और मिट्टी का होने पर भी भव्य! उस मकान के मालिक थे एक वैद्यराज।

वैद्यराज सौम्य-दर्शन, अति विनयी तथा भक्त आदमी थे। पत्नी सुलक्षणा, सुरूपा तथा सुशीला। दोनों का ही स्वास्थ्य सुन्दर था। एक पुत्री (१२ वर्ष) और एक पुत्र (८ वर्ष)। चेहरे-मोहरे से उच्च कुल के लक्षण दीख पड़ते हैं। दोनों ही स्वस्थ और सुन्दर-तनु – चित्ताकर्षक थे!

परिव्राजक जिस दिन फरीदपुर पहुँचा, उसी दिन वैद्यराज ने आकर अपना परिचय दिया और यह कहकर विदा ली कि सत्संग के लिए नित्य आएँगे। इसके बाद वे प्रतिदिन आने लगे और प्रेमपूर्वक विविध धार्मिक चर्चाओं में भाग लेने लगे।

करीब महीना भर हो चुका था, एक दिन संन्यासी ने देखा कि वैद्यराज की दोनों सन्तानें आश्रम के पास के एक विशाल आम के वृक्ष की छाया में खेल रहे हैं। तब सुबह के नौ-साढ़े नौ बजे होंगे। बाद में लगभग दो बजे देखा, तो दोनों वहीं थे। तब लड़की को बुलाकर पूछा – "क्यों, क्या बात है, अभी तक यहीं हो, खाना खाने नहीं गई?" ... लड़की आँखें नीची करके खड़ी रही, तभी बालक भी वहाँ आ गया। उसका मुँह भूख के मारे सूखा हुआ-सा दीख पड़ता था। – "क्यों बेटा, आज घर में क्या है जो अम्मा ने खाने को नहीं दिया?" पर कुछ जबाव नहीं मिला। तब संन्यासी उन्हें बुलाकर ले गया और पके हुए अच्छे केले और धान के लावे खाने को दिये। मन में सोचने लगा कि वैद्यराज मिलने से कहेगा, "छोटे बच्चों को इतनी देर तक भूखा रखने का क्या मतलब है?"

वैद्यराज घर में ही थे और वहाँ से ही देख रहे थे कि बच्चे कुछ खा रहे हैं। वे धीरे धीरे आश्रम में आए और बच्चे उन्हें देखकर घबड़ाए, पर संन्यासी का आश्वासन मिलने पर चुपचाप खाकर पुन: आम के पेड़ के नीचे जाकर खेलने लगे।

– "क्यों वैद्यराज, क्या बात है? आज अभी तक रसोई नहीं हुई है क्या? बच्चे भूखे हैं।"

वैद्यराज दृष्टि जमीन पर गड़ाए शान्त बैठे रहे, फिर कुछ देर तक मौन रहने के बाद बोले, "अब आपसे क्या छिपाएँ स्वामीजी! हाँ, आज रसोई नहीं हुई है। घर में कुछ नहीं है, ... पर शाम तक वे (परमेश्वर) जरूर देंगे, हमेशा देते हैं। आज तक कभी एकदम उपासी नहीं रहना पड़ा है, उनकी कृपा से मिल ही जाता है।"

– "पर वैद्यराज, कम-से-कम बच्चों को, यदि अन्य सगे-सम्बन्धियों के यहाँ नहीं तो मेरे पास भेज देते।"

– "नहीं स्वामीजी, दोनों बच्चे जब भी देखते हैं कि अम्मा ने चूल्हे में आग नहीं दी है, तो समझ जाते हैं कि घर में अन्न नहीं है और चुपचाप बाहर आकर ज्यादातर इसी जगह खेला करते हैं – जब तक इनकी अम्मा नहीं बुलाती, वे अन्यत्र न जाकर इसी जगह खेला करते हैं! बाकी दिन तो जंगली शाक-पत्ते लाकर नमक के साथ दे देती है, पर आज तो वह भी प्राप्त नहीं हो सका है, क्योंकि अधिक वर्षा के कारण बाढ़ आ जाने से, खाने-लायक सब जंगली शाक-पत्ते सड़ गये हैं। इसी कारण अभी तक कुछ दे नहीं सकी है। पर स्वामीजी, शाम तक वे (परमेश्वर) जरूर देंगे, हमेशा देते हैं।" ....

इतने में कोई मुसलमान वैद्यराज को बुलाने आया और कहा – जल्दी आइए, घर में बहुत तकलीफ है। वैद्यराज विदा लेकर उसके साथ चल दिये। शाम को जब लौटे, तो बाजार से चावल आदि आवश्यक चीजें लेकर लौटे और दूर से छोटी-सी थैली दिखाकर कहा, "स्वामीजी, दिया है!" और घर में चले गये। संक्षेप में सब कुछ कहना हो गया।

वैद्यराज की परम श्रद्धा, अटल विश्वास और शरणागति की दृढ़ भावना देखकर संन्यासी मुग्ध हुआ और उसके हृदय में वैद्यराज के प्रति अत्यधिक श्रद्धा तथा प्रेम भी उमड़ आया।

घर पर सामग्री रखकर वैद्यराज हँसते हुए फिर आए और बोले, "मैं तो कह रहा था स्वामीजी, भगवान शाम तक जरूर देते हैं, एकदम उपासी आज तक नहीं रखा है। ऐसा तो बहुत

दिन हुआ करता है कि घर मे एक दाना भी नहीं रहता, पर अपार कृपालु भगवान अवश्य देते हैं। ... और उनकी कृपा असीम है, ये बच्चे भी यदि खाने के लिए रोने लगें तो माँ-बाप की मानसिक स्थिति कैसी हो सकती है, सो तो आप समझ सकते हैं, पर ये भी चुपचाप बाहर चले जाते हैं। कभी कभी तो रात तक ऐसे उपासी रहकर भी घर पर जाकर माँगते नहीं, ... केवल इतना ही नहीं, ये अपने सगे-सम्बन्धियों के घर भी नहीं जाते, इनकी अम्मा ने मना कर दिया है, बस, किसी से खाने को नहीं माँगते, पर आज तो मैं आश्चर्यचकित हो गया कि आपके पास आकर ये खाने लगे। और गृहिणी भी मुझे कभी नहीं कहती है कि लाओ, या कोई वस्तु माँगती नहीं है, स्वयं देख लेती है कि पेटी में पैसा है या नहीं, यदि कुछ नहीं हुआ, तो ईश्वर का स्मरण कर चुप रह जाती है। अपना कर्तव्य जो बन सके, सो करती है।''...

– ''पर वैद्यराज, उन्होंने माँगा नहीं, मैंने ही बुला लिया था और मेरे साथ आपका सम्बन्ध कुछ और है, ऐसा समझकर ही शायद उन्होंने राजी होकर खाना स्वीकार किया है।''...

– ''हाँ स्वामीजी ! यह तो सौभाग्य की बात है कि वे आपसे प्रेम रखते हैं। मुझे इसमें कोई एतराज नहीं है कि उन्होंने आपसे कुछ खाने को लिया है। यह तो आनन्द की ही बात है।'' ...

– ''पर वैद्यराज ! एक बात है, गृहस्थ लोग यदि घर में न हो, तो कहीं से उधार लेकर काम चला लिया करते हैं?''...

– ''हाँ स्वामीजी ! पर मेरे पूज्य पिताजी का आदेश है कि कभी उधार मत लिया करो। मैं इस मनाई के अनुसार चलने का प्रयत्न करता हूँ, कोई भी वस्तु उधार नहीं लेता और भगवान जब शाम तक खाने को देते ही हैं, तो फिर ...''

– ''पर वैद्यराज ! आपके पास तो दवा लेने काफी लोग आया करते हैं, फिर भी यह हाल क्यों?'' ...

– ''हाँ स्वामीजी, यह ठीक है कि मेरी सेवा लेने के लिए काफी लोग आते हैं और जहाँ तक सम्भव हुआ, मैं भी प्रेम से उनकी यथोचित सेवा किया करता हूँ – दवा पास में होने से दे देता हूँ, नहीं तो नुस्खा (प्रेसक्रिप्सन) लिख देता हूँ, वे बाजार से लेते हैं। ... मेरे पूज्य पिताजी का आदेश था कि कभी किसी से दवाई के लिए या विजिट (घर पर जाकर रोगी का परीक्षण करने) के लिए पैसा मत माँगना। मैं उनकी इस आज्ञा का भी पालन करता हूँ। जो पूछता है, उसे उचित मूल्य बता देता हूँ और जो कुछ देता है, ले लेता हूँ। ज्यादातर लोग कम ही देते हैं – ईश्वरेच्छा ! विजिट के लिए भी यही नियम पालन करता हूँ, दो रुपये रखा है, पर जो देता है ले लेता हूँ, नही देने से माँगता नही।'' ...

– ''बहुत अच्छा वैद्यराज, पर आप हिसाब लिख रखते हैं या नहीं? क्योंकि बहुत दिनो के बाद यदि कोई पूछे कि कितने पैसे हुए, तो याद करके कहना मुश्किल होगा।''...

– ''जी हाँ, साफ हिसाब रखता हूँ। पूछने पर एक मिनट में बता दे सकता हूँ।'' ...

– ''वाह ! ... यदि कोई खास आपत्ति न हो, तो जरा मुझे दिखाएँगे क्या? वैद्यराज (जरा सोचकर) – ''आपके सामने कुछ भी गोपनीय नहीं है'' – कहकर चल दिये और खाता ले आये। वाकई हिसाब सुन्दर और साफ ढंग से लिखा हुआ था, नाम-धाम, तारीख, दवाई, कीमत, वसूल, बाकी – बीमारी, विजिट का समय, तारीख आदि।

उसमें आश्रम से जुड़े दो-तीन सज्जनों के नाम भी थे और संन्यासी ने झट अन्दाजा लगाकर देखा तो बकाया हजार-डेढ़ हजार रुपयों से कम नहीं होगा। और भी बहुत ऐसे सज्जन थे, जिन्होंने वर्षों तक उनकी सेवा लेते रहने पर भी कभी पैसे देने की बात सोची ही नहीं थी। इसका मुख्य कारण तो शायद यही होगा कि वैद्यराज माँगते नहीं थे, बिल नही भेजते थे और इन सबके लिए, अपने घर के आदमी जैसे हो गए थे और अपने आदमी के लिए भला क्या सोचना? ...

वैद्यराज को घर से बुलावा आया, खाना तैयार हो गया था, नमस्कार करके वे चले गये। संन्यासी ने तत्काल आश्रम के सचिव को बुलाकर हकीकत सुनाई और जो दो-तीन लोग आश्रम के घनिष्ठ-सम्पर्कियों में से थे, उन्हें बुला लाने को कहा। उन लोगों के आने पर संन्यासी ने सब बातें सुनाकर कहा – ''सज्जनो ! यह अनुचित है, इस विषय में वैद्यराज ने तो कुछ नहीं कहा है, मैं ही आप लोगों से कह रहा हूँ – वे माँगते नहीं हैं, इस कारण देना भूल जाना तो उचित नही है। समय पर देना ही धर्म है।''

– ''पर स्वामीजी, वैद्यराज तो अपने घर के आदमी जैसे हैं, उन्होंने हमसे कहा भी नही और आपको ... ''

– ''आप लोग फिर वही बात कह रहे हैं – मैंने एक बार स्पष्ट कर दिया है कि वैद्यराज ने मुझसे कुछ भी नही कहा है, यह तो उनके लिखे हुए हिसाब के खाते को देखने पर मुझे पता चला और उनकी आर्थिक स्थिति को ख्याल में रखकर ही मैं आप लोगों से कह रहा हूँ, इसमें वैद्यराज को मत लाइए। ... आप सभी धर्मप्राण लोग हैं। आप जैसों का नैतिक फर्ज है कि उचित मजदूरी समय पर चुका दें, कोई माँगे या न माँगे, जो उचित देय या कीमत हो, उसे यथासमय चुका दें।''...

सज्जन लोग घर चले गए और कुछ रुपये – करीब सात सौ रात को ही पहुँचाए और सुबह कुछ अन्य लोगो ने भी दिया। दो दिन मे वैद्यराज को लगभग डेढ़ हजार की रकम मिली, जो उन्होंने कल्पना भी न की थी। ... परन्तु रात दस बजे के बाद वैद्यराज रोते हुए आये, ''महाराज, आपने यह

क्या किया? आपने क्यों कहा? मुझे अपार दु:ख हो रहा है, जो मैं कभी करता नहीं हूँ, वह आपने कर दिया, मेरा क्या होगा?'' आदि आदि – कहते हुए विलाप करने लगे !

– ''आपने तो कुछ कहा नहीं है, मैंने ही कहा और इससे जो कुछ दोष या पाप हुआ हो, सो मेरा ही हुआ। वे सज्जन हैं, धर्मप्राण है, पर कर्तव्य से चूक गए थे, सो एक संन्यासी ने याद दिलाया है और संन्यासी का यही कर्तव्य भी है। ... आप दुखी हो रहे हैं – यह आपके उच्च संस्कार का लक्षण है, यह देख मुझे आनन्द हो रहा है। यथार्थ धार्मिक व्यक्ति ऐसे ही हुआ करते हैं। ... आप निश्चिन्त रहिए, यह काम आपने नही किया है, पर ईश्वर की प्रेरणा से यह मेरे द्वारा हो गया, अत: दोष या पाप का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं है, आप शान्त-चित्त हो जाइये, आराम कीजिए।'' ...

वैद्यराज नम नेत्रों के साथ उठकर धीमी गति से चले गये।

सुबह, काफी देरी से, जब फिर मिले, उस समय भी उनकी मुखाकृति वेदनापूर्ण थी, मानो कोई महान् शोक हुआ हो। ... आश्चर्य ! मनुष्य ऐसा भी होता है।

तीसरे दिन आग्रहपूर्वक संन्यासी को अपने घर ले गये, उनकी धर्मपत्नी का ही विशेष आग्रह था। संन्यासी ने जाकर देखा – साड़ी, धोती आदि धूप में सूख रहे हैं, एकदम फटे-चीथड़े, गाँठ बाँध-बाँधकर किसी तरह से आबरू की रक्षा के लिए उपयोगी बनाने की कोशिश की गई थी।

– ''वैद्यराज, यह क्या?''

– ''रात में घर पर इसी से काम लेते रहे. दिन मे बाहर के लिए पहनने को सबके लिए एक एक अच्छा कपड़ा है और आज बाजार से खरीद लाऊँगा, आपने ही तो अर्थ दिलाया है।'' आँखें अश्रुपूर्ण हो आईं, सती के नेत्रों में भी आँसू थे।

और संन्यासी ने देखा – इस दिव्य् गृहस्थ का घर अति पवित्र देवालय-जैसा – सुन्दर, स्वच्छ, सुरुचिपूर्ण और व्यवस्थित था, जो केवल मिट्टी से ही निर्मित था और उसमें एक ऐसा आध्यात्मिक वातावरण मिला, जो अनोखा था, अपूर्व था।

❖ (क्रमश:) ❖

छुआछूत का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

भारत में सबसे बड़ा सामाजिक अपराध यदि कोई है, तो वह है छुआछूत। यह कब से और कैसे शुरू हुई यह पता लगाना कठिन है। पर लगता है कई शताब्दियों से छुआछूत की यह भावना हमारी समाज-देह में घुसी हुई है और हमें सतत खोखला बनाने की दिशा में कार्यशील है। हमारे यहाँ बड़े-बड़े चिन्तक और मनीषी हुए, जिन्होंने हमारी इस बुराई को दूर करने का आजीवन प्रयत्न किया, पर यह हमारा दुर्भाग्य है कि अब भी यह बुराई दूर नहीं हुई। इसका कारण यह लगता है कि भले ही कतिपय उच्चाशय महात्माओं ने इस 'सामाजिक कोढ़' को नष्ट करने का बीड़ा उठाया, पर हम संगठित रूप से इसके उन्मूलन की दिशा में प्रवृत्त न हो सके। स्वामी विवेकानन्द ने इस छुआछूत को 'मानसिक रोग' की संज्ञा दी है। यह विडम्बना है कि एक ओर से तो हम ईश्वर के सर्वव्यापित्व के गीत गाते हैं - यह कहते हैं कि वह आत्मतत्त्व सबके भीतर विद्यमान है, और दूसरी ओर हम जन्म के आधार पर जाति-पाँति का भेद करते हुए, विशेषाधिकार की अपेक्षा रखते हैं। छुआछूत की भावना के पीछे विशेषाधिकार का भाव छिपा रहता है। अतएव विशेषाधिकार की भावना को समूल नष्ट करना होगा।

यह दलील दी जाती है कि छुआछूत और भेदभाव तो उन जातियों में भी विद्यमान है, जिनको भारत में निम्न माना जाता रहा है। इसका उत्तर यह है कि यह उन निम्न मानी जाने वाली जातियों को तथाकथित उच्च जातियों की देन है। ऊपर के लोग जैसा करते हैं, नीचे के लोग भी उसका अनुकरण करते हैं। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

- अर्थात् ''श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं, अन्य जन भी वैसा ही करते हैं। वे जो प्रमाण कर जाते हैं, लोग भी उसी का अनुवर्तन करते हैं।'' अतः यदि नीची मानी जानेवाली जातियों में परस्पर के लिए छुआछूत का भाव है, तो उसका दोष ऊँची मानी जाने वाली जातियों को ही है। छुआछूत का यह जहर तथाकथित उच्च वर्ण के लोगों के द्वारा ही समाज-देह में फैलाया गया है। कहावत है कि नाग के काटे का विष तभी दूर हो सकता है, जब वही नाग उस काटी हुई जगह में मुँह रखकर अपने दिये विष को चूस ले। अतः यह उच्च वर्ण का कर्त्तव्य है कि अपने छुआछूत के दिये हुए विष को वे स्वयं चूसें और समाज-देह को स्वस्थता प्रदान करें।

हमने अपने संविधान में छुआछूत को कानूनी अपराध माना है। पर मात्र कानून के बल पर किसी अपराध या अशुभ को दूर नहीं किया जा सकता। जब तक हमारा हृदय अपराध को अपराध मानने के लिए तैयार नहीं है, तब तक अपराध को नष्ट नहीं किया जा सकता। यदि हम बुद्धिजीवी हैं, तो हमें स्वीकार करना होगा कि जन्म के आधार पर मनुष्य मनुष्य में भेद करना बुद्धि की तौहीनी है। यदि हम अध्यात्मवादी हैं, तो मनुष्य मनुष्य में भेद करना अध्यात्म के ही सिद्धान्तों को झुठलाना है। यदि हम ईश्वर को मानते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि वह न्यायी है, तो मानव-मानव में जन्म के आधार पर भेद करना ईश्वर को अन्यायी सिद्ध करेगा। वास्तव में मनुष्य जन्म के आधार पर बड़ा या छोटा नहीं होता, वह तो अपने स्वभाव, गुणों और कर्मों के आधार पर ही उच्चता या लघुता प्राप्त करता है। यदि भेद का आधार जन्म को माना जाए, तो विशेषाधिकार का भाव पैदा होता है, जो हमारे पतन का कारण रहा है। भेद का आधार तो वस्तुतः हमारा गुण और कर्म है। इसे समझ लेने पर पुरुषार्थ की भावना विकसित होगी और विशेषाधिकार का भाव खण्डित होगा।

स्वामी विवेकानन्द छुआछूत को एक भयानक खाई के रूप में देखते हैं, जिसमें भारतीय समाज गिर पड़ा है। वे हमें बचाने के लिए हमारा आह्वान करते हुए कहते हैं - ''तुम अपना जीवन 'मत छुओवाद' के इस घोर अधर्म में मत खो बैठना। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अर्थात् 'सभी प्राणियों को स्वय अपनी आत्मा के समान देखो' - क्या यह उपदेश केवल पुस्तकों के भीतर ही रह जायेगा? जो भूखे के मुँह में एक टुकड़ा रोटी नहीं दे सकते, वे मुक्ति कैसे देंगे? जो दूसरों के केवल श्वास से ही अपवित्र हो जाते हैं, वे दूसरों को पवित्र कैसे बनाएँगे? 'मत छुओवाद' एक प्रकार का मानसिक रोग है। सावधान ! विकास ही जीवन है और सकीर्णता ही मृत्यु; प्रेम ही विकास है और स्वार्थपरता ही सकीर्णता। अतः प्रेम ही जीवन का एकमात्र नियम है।'' और यह प्रेम ही छुआछूत के सामाजिक कोढ़ से हमारी रक्षा कर सकता है। ❑❑❑

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

९३. प्रश्न – 'कृच्छ्र-साधन' किसे कहते हैं और आध्यात्मिक जीवन में इसका क्या महत्त्व या उपयोगिता है? माँ श्री सारदादेवी ने एक बार जो 'पंचाग्नि तप' किया था, वह क्या उक्त साधन के अन्तर्गत आ सकता है?

उत्तर – वह साधना जिसमें शरीर को बलपूर्वक कष्ट दिया जाता है, 'कृच्छ्र'-साधन कहलाता है; जैसे – एक पैर पर खड़े रहना, एक हाथ उठाये रहना, सिर के बल खड़े रहना आदि। विभिन्न प्रकार के व्रत-उपवास भी इसके अन्तर्गत आते हैं, जो शरीर को कष्ट देने की ही दृष्टि से किये जाते हैं। श्रीमाँ का वह 'पंचाग्नि तप' भी इसी का एक रूप था, जब वे तपते ग्रीष्मकालीन सूर्य के नीचे चारों दिशाओं में अग्नि प्रज्वलित कर बीच में सूर्योदय से सूर्यास्त तक जप-तप करते बैठी रहतीं और ऐसा उन्होंने सात दिन तक किया था। इसे 'पंचतपा' के नाम से पुकारा गया है – चार दिशाओं में जलते हुए उपलों के ढेर और ऊपर तपता हुआ सूरज। इस तरह के कृच्छ्र-साधनों का अनुष्ठान 'दम' का एक प्रकार है। शरीर और बाह्य इन्द्रियों पर नियंत्रण करने के लिए इनका अनुष्ठान किया जाता है। मन पर नियंत्रण प्राप्त करने की साधना को 'शम' कहते हैं। शरीर और इन्द्रियाँ बलपूर्वक मन का हरण कर लिया करती हैं, ऐसी दशा में बिना 'दम' के 'शम' का अभ्यास कारगर नहीं हो पाता। पर यह कृच्छ्र-साधन 'दम' की आत्यन्तिक साधना है। इससे क्रमशः शरीर और बाह्य इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त होता है। हठयोगी की साधना में ऐसे कृच्छ्र-साधन की बहुलता होती है। इसमें सिद्ध होने से कुछ सिद्धियों के प्राप्त होने का उल्लेख भी ग्रन्थों में मिलता है।

पर इसका आध्यात्मिक महत्त्व क्या है और कितना है – इसका निर्णय कठिन है। जहाँ यह मन को नियंत्रण में लाने में सहायक होता है, वहाँ तक तो आध्यात्मिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता है, पर इससे प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ बहुधा मन के विक्षेप का कारण होती हैं, व्यक्ति के प्रदर्शनशील होने की सम्भावना रहती है तथा व्यक्ति का ध्यान ईश्वर के बदले देह पर ही अधिक केन्द्रित होने लगता है। अतः 'शम' के सहायक साधन के रूप में ग्रहण तक इसकी आध्यात्मिक उपादेयता है।

ऐसा लगता है कि माँ श्री सारदादेवी ने ऐसे साधनों को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। जब किसी भक्त ने उनसे पूछा, "ऐसे कृच्छ्र-साधन की क्या जरूरत?" तो उत्तर में उन्होंने कहा, "तप जरूरी है ... पार्वती ने भी शिव के लिए किया था। ... ये लोगों के हित के लिए किये जाते हैं। नहीं तो लोग कहेंगे, 'वह तो साधारण व्यक्ति की तरह खाती-पीती और रहती है।' पंचतपा और इसी प्रकार के अन्य तप नारियों के लिए हैं, जैसे व्रत-उपवास होते हैं, वैसे ही। ठाकुर ने सब प्रकार की साधनाएँ कीं। वे कहते थे, 'मैंने साँचा बना दिया है, अब तुम लोग अपने आप को ढाल लो'।" किसी अन्तरंग भक्त ने पूछा, "पर माँ, आपको इतना तप करने का क्या जरूरत?" माँ ने उत्तर दिया, "यह तो तुम्हीं लोगों के लिए करती हूँ, बेटा! लड़के इतना सब कैसे करें? अतः उनके लिए मैं ही कर लेती हूँ।"

अतएव, निष्कर्ष यह है कि 'कृच्छ्र-साधन' देह-केन्द्रित साधना है और इसका आध्यात्मिक महत्त्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितनी मात्रा में मन के विक्षेपों को दूर करने में सहायक होता है।

९४. प्रश्न – जिसे शास्त्रों ने मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना है, वह मोक्ष क्या है? क्या इस लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा में व्यक्ति स्वार्थपर नहीं बन जाता? मोक्षकामी व्यक्ति दूसरों की सेवा भला कैसे और क्योंकर करेगा, जब वह जानता है कि इससे उसका मन विक्षिप्त ही होगा?

उत्तर – मोक्ष मन की वह स्थिति है, जहाँ सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। वह मन पर विजय की अवस्था है। मन और द्वन्द्व – दोनों को एक दृष्टि से पर्यायवाची माना जा सकता है। द्वन्द्व का समाप्त होना ही मन का भी समाप्त होना है। इसे शास्त्रों ने 'अमनी मन' की अवस्था के नाम से भी उल्लेख किया है। सामान्य अवस्था में मन बड़ा चंचल रहता है, उसमें सतत संकल्प और विकल्प उठते रहते हैं। जिस अवस्था में मन की चंचलता दूर हो जाए, वह भी मोक्ष का एक अभिप्राय है। इसीलिए कहा भी गया है –

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तैर्निर्विषयं स्मृतम् ।।

– 'मन ही मनुष्य के बन्धन का कारण है और साथ ही मोक्ष का भी। जब वह चंचल होता है और बाहर के विषयों की ओर

दौड़ता है, तो बन्धन का हेतु बनता है, किन्तु जब वह अपनी चंचलता त्यागकर निर्विषय होता है, अर्थात् आत्मा को अपना विषय बनाता है, तो मोक्ष का साधन बन जाता है।' अतः यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष वह अवस्था है, जहाँ मन काम और संकल्प से रहित होकर निर्विकल्प हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि व्यक्ति इस मोक्षरूपी लक्ष्य को पाने की चेष्टा करता है, वह क्या स्वार्थी नहीं बन जाता? एक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि मोक्षकामी स्वार्थपर बन जाता है, क्योंकि सतत वह अपने ही सम्बन्ध में सोचता रहता है – 'मैं किसी बन्धन में न फँसूँ', 'मैं मुक्त हो जाऊँ', 'संसार का मेरा आवागमन कट जाए', 'मैं भगवान के दर्शन पा लूँ' आदि आदि। परन्तु यह तभी होता है, जब उसका चिन्तन स्वयं उसके अपने तक ही केन्द्रित होता है। यथार्थ धर्म ऐसे स्वार्थपर भाव का पोषण नहीं करता। धर्म यह तो कहता है कि मन की निर्द्वन्द्वता रूप मोक्ष को पा लेना ही जीवन का लक्ष्य है, पर साथ ही वह इस पर भी जोर देता है कि यह निर्द्वन्द्वता तभी प्राप्त होगी, जब मन शुद्ध हो जाएगा।

अभी हमारा मन मलिन वासनाओं से भरा हुआ है। ऐसा मन साधन करने में समर्थ नहीं होता। उसे साधना की पात्रता तब मिलती है, जब वह अपना शोधन करता है। और शोधन का सबसे कारगर उपाय है, ऐसे कार्यों में अपने को लगाना जिनमें हमारा कोई स्वार्थ नहीं। जो कार्य हमारे द्वारा दूसरों के हित के लिए किये जाते हैं, वे मन की शुद्धि के सबसे समर्थ साधन हैं। सन्त एकनाथ की कथा आती है कि गंगोत्री से लाये गंगाजल को, जिसे वे श्री रामेश्वर में शिवजी का अभिषेक करने ले जा रहे हैं, एक प्यास से मृतप्राय गधे को पिलाकर निःशेष कर देते हैं और यह मानते हैं कि वही सच्ची शिवपूजा हो गई। कल्पना करें, कहाँ महाराष्ट्र और कहाँ गंगोत्री, पैदल चलकर पथ की समस्त विघ्न-बाधाएँ सहकर उतनी दूर जाना, फिर वहाँ रामेश्वर के लिए यात्रा करते करते आन्ध्र-प्रदेश तक नीचे उतर आना और रामेश्वर के समीप आकर सारा जल गधे को पिलाकर समाप्त कर देना ! यह सेवाभाव एकनाथ ने कहाँ से प्राप्त किया? – निस्सन्देह धर्म की शिक्षा से ही।

अतः मोक्षकामी व्यक्ति सेवा से दूर नहीं भागता। जो मन के चंचल होने के डर से सेवाकार्य से भागता है, उसने मोक्ष के तत्त्व को ही नहीं समझा। मोक्षकामी व्यक्ति सेवा को अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का सक्षम साधन मानता है। **जो धर्म का नाम लेकर स्वार्थी बनता है, उसे मोक्ष नहीं मिल सकता, क्योंकि मोक्ष और स्वार्थ दोनों परस्पर-विरोधी स्थितियाँ हैं**। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिष्य को, जो सेवाकार्यों में सक्रिय हाथ बटाने के बदले पूजा-उपासना में अधिक रुचि प्रदर्शित करता था, डाँटते हुए उपदेश दिया था – "यदि तू 'मेरी मुक्ति' 'मेरी मुक्ति' कहता रहेगा, तो तुझे कभी मुक्ति नहीं मिलेगी। जा दूसरों की सेवा कर, उनके लिए अपना जीवन खपा दे। मस्तिष्क में अपने लिए कोई चिन्ता न रहे, केवल दूसरों के लिए जी। देखेगा, मोक्ष तेरे चरण चूमेगा।" तात्पर्य यह है कि स्वार्थ हेतु किये गए कर्म – चाहे वे धर्म से ही सम्बन्धित क्यों न हों – मन की चंचलता बढ़ाते हैं, जबकि दूसरों की सेवा हेतु किये गए कर्म उसे निरुद्ध करते हैं। और मन का निरोध ही तो मोक्ष का सोपान है। परन्तु हाँ, सेवा के ये कर्म भगवत्समर्पित बुद्धि से किये जाने चाहिए, तभी वे मोक्ष का साधन बनते हैं। ❖ (समाप्त) ❖
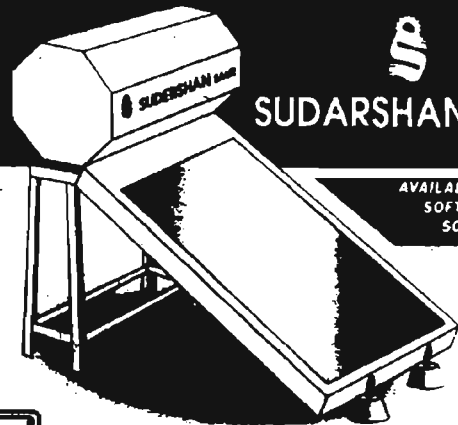
मूर्ख को उपदेश

हितहूँ की कहिए नहीं, जो नर होय अबोध।
ज्यों नकटे को आरसी, होत दिखाए क्रोध।।

– यदि व्यक्ति मूर्ख हो तो उसके हित की भी बात नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि नकटे को दर्पण दिखाने के समान इससे उसके क्रोध में ही वृद्धि होगी।

गीता में साधना की रूपरेखा (१)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतांचा अन्तरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमश: प्रकाशित कर रहे है। – सं.)

गीतोक्त साधना का प्राथमिक स्वरूप

गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस अध्याय के मुख्य विषय का निदर्शक एक 'संकल्प' आता है। उन संकल्पों में हर बार आनेवाले कुछ शब्द हैं – 'श्रीमद्-भगवद्-गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे ...' – अर्थात् भगवान द्वारा कथित इस उपनिषद् या ब्रह्मविद्या या योगशास्त्र या कृष्णार्जुन-संवाद में ...।

मूल महाभारत से अलग की गई गीता के अध्यायों के अन्त में इस संकल्प को चाहे जिसने भी जोड़ा हो, पर नि:सन्देह ऐसा करनेवाला वह व्यक्ति गीता के तात्पर्य को अत्यन्त सुन्दरता से, अत्यन्त यथार्थता से जाननेवाला था। क्योंकि इस अजर-अमर कृष्णार्जुन-संवाद का 'ब्रह्मविद्या' तथा 'योगशास्त्र' – इन दो उत्कृष्ट एवं परिपूर्ण शब्दों ने किया गया वर्णन इतना यथार्थ तथा सटीक है, इतना उचित है कि इन दो शब्दों के साथ हम चाहे और कितने भी शब्द जोड़ दें, तथापि उनकी सटीकता में जरा भी वृद्धि नहीं हो सकती। गीता के स्वरूप व मर्म समझने के लिए उन दो शब्दो से अधिक का उपयोग करने से ज्यादा कुछ सहायता नहीं मिलती।

* * *

गीता 'योगशास्त्र' है और उस में 'ब्रह्मविद्या' कही गयी है। विद्या का अर्थ है ज्ञान। 'ब्रह्मविद्या' अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान। योग अर्थात् सम्बन्ध, एकीकरण, मिलाप, एकता। ब्रह्म से, उस एकमेवाद्वितीय, सर्वातीत, सर्वगत सच्चिदानन्द प्रभु से सम्बन्ध करने का, जोड़ने का, मिलाप साधने का, एकता स्थापित करने का, अचूक अमोघ यथार्थ विज्ञान है 'योगशास्त्र'।

कुल मिलाकर गीता में सत्य का, जीव तथा जगत् के सच्चे स्वरूप का ज्ञान बतलाया गया है और साथ ही उस सत्य की प्राप्ति का मार्ग या उपाय अर्थात् उस सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए साधना भी बताई गयी है।

ठीक ही तो है। गीता यह कोई पश्चिमी अर्थ में फिलॉसोफी या तत्त्व-विचार का ('thinking consideration of things') का ग्रन्थ नहीं है। गीता यह एक जीवन-दर्शन है। इसमें जीवन की ओर, स्वयं की ओर तथा जगत् की ओर देखने की सम्यक् या यथार्थ अर्थात् सच्ची दृष्टि वर्णित हुई है। यह दृष्टि कौन-सी है – यह बताते हुए, साथ में यदि उसे प्राप्त करने की विधि न बताई जाय, तो वह ज्ञान बाँझ माना जाता है – उसका मूल्य केवल बौद्धिक कसरत या भावनाओं की खुसफुसाहट तक ही सीमित है।

संक्षेप में, गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने जीवन तथा जगत्-विषयक अन्तिम सत्य के ज्ञान के साथ साथ उस सत्य को प्राप्त करने के लिए साधना भी बताई है।

इसी को हम हिन्दुओं की परम्परागत शैली में 'स-रहस्य विद्या' कहते हैं।

* * *

गीता की इस 'ब्रह्मविद्या' का सर्वांगीण स्वरूप क्या है – इसे स्थूल रूप मे हमने 'कृष्णार्जुन-संवाद का रहस्य' अध्याय में देख लिया।

इस प्रकार गीता के ब्रह्मविद्या का सर्वांगीण स्वरूप देखने के बाद, अब हमें क्रमबद्ध रूप से गीता में वर्णित साधना का सर्वमान्य स्वरूप एवं साधना की सिद्धि तक का मार्ग और उस सिद्धि का स्वरूप देखना है।

– २ –

गीता के सत्रह अध्यायों की टीका समाप्त कर अठारहवें अध्याय की टीका को शुरू करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं –

न्यास-त्याग-विभागेन सर्व-गीतार्थ-संग्रहम्।
स्पष्टम् अष्टादशे प्राह परमार्थ-विनिर्णये।।

इसका भावार्थ यह है कि 'परमार्थ के विषय में निश्चित, निर्णायक सिद्धान्त बतानेवाला, अठारहवें अध्याय में भगवान ने 'संन्यास और त्याग' के रूप में विभाग कर समग्र गीता का सम्पूर्ण अर्थ असन्दिग्ध रूप से बताया है।'

भगवत् पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य ने भी गीता के इस अठारहवें अध्याय के विषय मे, इस अध्याय के अपने भाष्य के प्रारम्भ में ही निम्न अर्थ के उद्गार व्यक्त किये है – "इस अध्याय में समस्त गीता-शास्त्र के अर्थ का उपसंहार करने के लिए और उसके साथ ही सभी वेदो का सार-सर्वस्व बताने के लिए इस अठारहवें अध्याय की शुरुआत की जा रही है।"

परम पूजनीय ज्ञानेश्वर महाराज ने अपनी विशिष्ट शैली में अठारहवें अध्याय को 'एकाध्यायी गीता' या गीता रूपी देवालय का 'कलश' बताया है।

* * *

इन गीता-मर्मज्ञों द्वारा प्रदान की गई उपरोक्त दृष्टि से इस अठारहवें अध्याय का अनुशीलन करने से, सचमुच ही हमें जैसा चाहिए वैसा, पूरी गीता की साधना का कुल स्वरूप, उस साधना की सिद्धि तक का मार्ग और उस सिद्धि का स्वरूप – इस अध्याय में सहज, पारदर्शक सुबोधता के साथ विस्तारपूर्वक कहा गया प्रतीत होता है।

– ३ –

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान ने इस 'कलश-अध्याय' में स्वयं को अभिप्रेत होनेवाली साधना का समग्र स्वरूप और उसकी सिद्धि तक का मार्ग बताते हुए परम आशादायक सुमंगल आशीर्वादमय शब्दों में घोषणा की है –

यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वम् इदं ततम्।
स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

– अर्थात् "जिससे समस्त जीव उत्पन्न हुए हैं और जिसने इस सम्पूर्ण जीव-जगत् को व्याप्त कर रखा है, उसका स्वयं के कर्मों द्वारा अर्चन करके – स्वकर्म द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।"

* * *

उस सर्वातीत-सर्वगत, एकमेवद्वितीय प्रभु ने सर्वत्र, सभी को अन्दर-बाहर से व्याप्त कर रखा है – यह 'जानकर' उस 'बोध' से स्वयं के 'कर्म' द्वारा, उस सर्व-स्वरूपी भगवान की 'पूजा' करके साधक 'सिद्धि' को प्राप्त करता है!

सचमुच ही, इस श्लोक का, इस गीतामंत्र का, भगवान के इस गूढार्थ शब्द का, ग्रहणशील चित्त से मनन करने से ऐसा बोध होता है कि इस एक ही मंत्र में भगवान ने 'ज्ञान', 'कर्म' तथा 'भक्ति' मार्गों का – इन तीनों 'योगों' का, अति मधुर मिलाप करके, अति लोभनीय, सहज-स्वाभाविक समन्वय करके गीतोक्त साधना के प्रारम्भिक सर्वमान्य स्वरूप को आकर्षक असन्दिग्ध तथा स्पष्ट रूप से वर्णन किया है।

यह समन्वय कैसा और उस समन्वयात्मक प्राथमिक साधना का स्वरूप क्या है?

* * *

भगवान ने भक्तों के चार प्रकार बताते हुए 'ज्ञानी' को भी भक्तों का ही एक प्रकार बताया है और यह 'ज्ञानी भक्त' ही सर्वश्रेष्ठ भक्त है – ऐसा विधान किया है।

भगवान के इन अर्थपूर्ण शब्दों से 'गीता' में वर्णित 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' के स्वरूप की स्पष्ट कल्पना की जा सकती है।

तथा इससे समझ में आता है कि जो भक्ति 'स्वरूपतः' ज्ञान ही है और जो ज्ञान 'वस्तुतः' भक्ति ही है – इस ज्ञानबोध तथा भक्तिभाव से स्वयं के कर्मों का आचरण करते जाएँ – यही तो गीताप्रणीत ज्ञान-भक्ति-कर्म का समन्वय है और यही उस गीतोक्त समन्वयात्मक साधना का प्राथमिक स्वरूप है।

– ४ –

अब इस स्थान पर, गीता में 'कर्म' तथा 'स्वकर्म' – इन दो शब्दों का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है, इसे अच्छी तरह समझ लेने से, गीतोक्त साधना के समग्र स्वरूप की हमारी उपरोक्त धारणा अधिक स्पष्ट तथा असन्दिग्ध हो जाएगी।

* * *

बिल्कुल संक्षेप में, सूत्रात्मक पद्धति से कहा जाय, तो जिसमें 'कर्ता, कर्म, क्रिया' अर्थात् 'विषयी, विषय तथा विषयी-विषय-सम्बन्ध' (subject, object and subject-object relation) – यह 'बोध' या 'चेतना' (consciousness) होती है, वे सब 'कर्म' होते हैं, गीता इसी अर्थ में 'कर्म' शब्द का उपयोग करती है।

और इसलिए, जिस ज्ञान में, या जब तक ज्ञान में 'ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान' अर्थात् 'विषयी, विषय तथा विषयी-विषय-सम्बन्ध' का बोध है, तब तक वह ज्ञान गीता के मतानुसार कर्म की ही श्रेणी में आता है। इसीलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के 'कर्म' के बारे में बताते हुए गीता में कहा गया है – "**ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं 'ब्रह्मकर्म' स्वभावजम्** – ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकता यह ब्राह्मण-स्वभाव के व्यक्तियों की, उन्हें जन्म से ही प्राप्त कर्म हैं।"

यहाँ जिस ज्ञान को भगवान ने कर्म कहा है, उस ज्ञान का स्वरूप बताते हुए आचार्य शंकर अन्यत्र एक जगह कहते हैं – "**ज्ञानम् - शास्त्रतः आचार्यतः च आत्मादिपदार्थानाम् अवगमः**" – अर्थात् "ज्ञान का अर्थ है शास्त्र-अध्ययन तथा गुरु से प्राप्त आत्मा आदि सत्यों के विषय में बोध।" इसी को 'परोक्ष' ज्ञान कहते हैं। यह परोक्ष ज्ञान गीता की सटीक परिभाषा के अनुसार 'कर्म' की श्रेणी में ही आता है।

जो यह तत्त्व 'ज्ञान' पर लागू होता है, वही 'भक्ति' पर भी प्रयोज्य है। यहाँ जिस भक्ति में या जब तक भक्ति में 'भक्त-भगवान-भक्ति' अर्थात् 'विषयी-विषय तथा विषयी-विषय सम्बन्ध' का बोध होता है, उस भक्ति का तथा तब तक की 'भक्ति' का गीतानुसार 'कर्म' की श्रेणी में ही समावेश होता है।

इस भक्ति को कहा जाता है – गौणी या वैधी या अपरा भक्ति। जिस भक्ति में से 'भक्त-भगवान-भक्ति' या 'विषयी-विषय तथा विषयी-विषय-सम्बन्ध' – इस बोध का लोप हो चुका है, उस भक्ति को गीता में 'अनन्य भक्ति' या 'पराभक्ति' कहा गया दिखाई देता है।

सारांश यह कि गीता के अनुसार साधना की एक विशिष्ट या अपरिपक्व अवस्था में, उसके साधक के लिए ज्ञान-भक्ति व कर्म – सभी उसके 'बोध' की दृष्टि से 'कर्म' ही हैं।

* * *

इस प्रकार गीता में 'कर्म' किसे कहा गया है, यह देखने के बाद, अब देखेंगे कि गीतानुसार 'स्वकर्म' क्या है।

हमने देखा कि भगवान कृष्ण ने साधक को ज्ञान, भक्ति, कर्म – इन तीनों का मेल, इस तीनों का समन्वय, सबसे पहले इसी साधना को अपनाने के लिए कहा है। (अर्थात् केवल ज्ञान, या केवल भक्ति, या केवल कर्म की साधना कम-से-कम गीता को तो अभिप्रेत नहीं है। ठीक से विचार करने पर बोध होता है कि गीता का यह अभिप्राय कितना यथार्थ, कितना अचूक, कितना सटीक और कैसा मानव-स्वभाव पर आधारित है ! क्योंकि केवल ज्ञान, या केवल भक्ति, या केवल कर्म की एकांगी साधना मानवी मनोरचना की दृष्टि से वस्तुत: सम्भव ही नहीं है और वांछनीय तो है ही नहीं।)

अब तो यह स्पष्ट ही है कि इस समन्वय के ज्ञान, भक्ति व कर्म – इन तीन घटकों में से ज्ञान तथा भक्ति – ये दोनों घटक सभी साधकों के लिए एक ही होंगे। ऐसा होना सम्भव ही नहीं है कि संन्यासियों के लिए ज्ञान भिन्न हो और गृहस्थों के लिए भिन्न; ब्राह्मणों के लिए भक्ति अलग और क्षत्रियों के लिए अलग; पुरुषों के लिए ज्ञान-भक्ति अलग हो और स्त्रियों के लिए अलग। इनके ज्ञान तथा भक्ति में जो विभिन्नता होगी, वह उन साधकों के अधिकार-भेद या पात्रता के भेद के कारण होनेवाले कम या अधिक मात्रा के कारण होगी। यह विभिन्नता मात्रा की होती है, प्रकार की नहीं। मानसिक अधिकार या पात्रता के अनुसार किसी में ज्ञान-भक्ति की 'अल्पता' रहेगी, तो किसी में 'अधिकता', किसी में स्पष्ट तो किसी में अस्पष्ट, बस इतना ही। परन्तु ज्ञान और भक्ति सभी के लिए स्वरूपत: एक ही रहने वाली है।

पर कर्म के विषय में ऐसा नहीं है। कर्म में अधिकार व पात्रता के साथ साथ साधक की व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द-चुनाव, उसकी शारीरिक रचना व गठन, उसका स्वभाव व रुचि, उसकी परिस्थिति, परिवार तथा समाज में उसका स्थान व स्तर आदि विभिन्न विषय उनके कर्मों का निर्धारण करते हैं। इसलिए संन्यासियों के कर्म अलग और गृहस्थों के कर्म अलग होंगे, ब्राह्मणों के कर्म अलग और क्षत्रियों के कर्म अलग होंगे, पुरुषों के कर्म अलग और स्त्रियों के कर्म अलग होंगे और होते भी हैं। ज्ञान एवं भक्ति – ये दोनों ही वस्तुतंत्र (objective) होते हैं, जबकि कर्म कर्तृतंत्र (subjective) होते हैं।

और यह स्वाभाविक भी है। ज्ञान व भक्ति – दोनों जैसे हर तरह के साधकों के लिए व्यक्ति-निरपेक्ष रूप में एक ही हैं, वैसे ही कर्म का सबके लिए समान होना सम्भव नहीं है। कर्म व्यक्ति-सापेक्ष होते हैं और व्यक्तियों के स्वभाव आदि विशेषताओं पर निर्भर होते हैं।

और इसीलिए गीता ने **कर्मणा तम् अभ्यर्च्य** (–'कर्म' से उसकी पूजा करके) न कहकर, बिल्कुल असन्दिग्ध रूप से **स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य** (–'अपने' कर्मों से उसकी पूजा करके) कहा है।

इसमें न केवल गीता की मार्मिकता, मनुष्य-स्वभाव का सूक्ष्म तथा यथार्थ ज्ञान और व्यवहारिक जगत् का जीवन्त बोध ही दिखाई देता, अपितु उसकी अपार दया-करुणा भी मर्मस्पर्शी रूप में व्यक्त होती है। गीता ने सबके लिए एक ही कर्म, या एक ही तरह के कर्म नही बतलाए हैं, सबके लिए भिन्न भिन्न कर्मों का निर्देश दिया है। गीता सभी के लिए है। चाहे कोई संन्यासी हो या गृहस्थ, ब्राह्मण हो या शूद्र, एवं स्त्री हो या पुरुष – उसकी ममता का आँचल सभी के ऊपर है। किसी का भी तिरस्कार नहीं है। अहा, शरणागत-वत्सल, परम दयालु भगवान गीतामुख से अति उदार, अति मधुर, अति करुणावान अति प्रोत्साहक, अति सांत्वना-दायक घोषणा करते हैं –

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः – अर्थात् "अपने अपने कर्मों में तत्पर रहनेवाले मनुष्यों को यथार्थ सिद्धि प्राप्त होती है।"

सारांश यह कि हर व्यक्ति के कर्म भिन्न भिन्न होते हैं। पर भगवान ने दृढ़तापूर्वक, स्पष्टतापूर्वक व्यक्त किया है कि वे सारे-के-सारे कर्म पूर्णत: निरपवाद रूप से साधकों को अन्त में सिद्धि की ओर ही ले जाते हैं। इसलिए साधक साधक के अनुसार 'कर्म' में भेद है, परन्तु सिद्धिलाभ की दृष्टि से श्रेष्ठ-निकृष्ट जैसा कोई 'भेदभाव' नहीं है। उचित 'बोध' के साथ किए गये प्रत्येक कर्म में समान रूप से सिद्धि की ओर ले जाने की – चित्तशुद्धि करने की शक्ति होने के कारण, 'मेरा कर्म श्रेष्ठ है' – ऐसा मानकर दूसरों के बारे में तुच्छभाव रखने का या 'मेरा कर्म निकृष्ट है' – ऐसा समझकर किसी दूसरे से ईर्ष्या या दूसरे किसी की नकल करने की भी जरूरत नहीं है।

– ५ –

सिर्फ ज्ञानबोध से तथा भक्तिभाव से साधक को स्वयं के कर्म का आचरण करना चाहिए।

गीतोक्त साधना का यही प्रारम्भिक स्वरूप है।

* * *

अब ज्ञानबोध से या भक्तिभाव से स्वकर्म करना होगा अर्थात् वस्तुत: क्या करना होगा?

तो, 'मैं' तथा 'जगत्' – ये उसी सर्वातीत सर्वगत एकमेव -अद्वितीय प्रभु का नाम-रूपात्मक लीला-विलास हैं – इस बोध से स्वयं ही, बिल्कुल स्वाभाविक रूप में उठनेवाले – 'प्रभो, मैं और मेरा नहीं बल्कि तुम और तुम्हारा ही' – इस भाव से साधक को 'निमित्त' मात्र बनकर अपने स्वभाव,

जीवन में स्थान, स्तर, परिस्थिति, अधिकार आदि के अनुसार प्राप्त कर्मों का आचरण करना चाहिए।

तात्पर्य यह कि मानवीय मन के विचार (thinking), भावना (feeling) तथा इच्छाशक्ति (willing) – ये जो तीन पहलू या स्वरूपगत घटक हैं, उन तीनों पहलुओं या घटकों के साथ साधक को प्रभु के साथ जुड़ना होगा, सम्बद्ध होना होगा, युक्त होना होगा, भगवान में घुल-मिलकर, लीन होकर, उनसे एकरूप होने का प्रयत्न करना होगा।

इसका यही अर्थ है कि भगवती गीता ने 'सभी' साधकों के मन के सभी पहलुओं को ध्यान में रखकर साधना बतायी है। अर्थात् गीता माता ने ब्राह्मण आदि सभी वर्णों, गृहस्थ आदि सभी आश्रमों, स्त्री-पुरुष दोनों योनियो और ज्ञान-भक्ति- कर्म इन तीनों मार्गो को अपने स्नेहालिंगन में लेकर सम्पूर्ण धर्म-जगत् पर अपने करुणा का आँचल डाला है।

इसलिए गीता केवल अमुक वर्ग या अमुक आश्रम के साधकों के लिए है – ऐसा कहना जैसे अविवेकपूर्ण होगा, वैसे ही यह कहना भी बचपना होगा कि गीता में केवल कर्म, या केवल भक्ति या केवल ज्ञान ही बताया गया है। इस तरह के दुराग्रहों का मुख्य कारण है – मानवीय मन तथा यथार्थ आध्यात्मिक जीवन के विषय में गहन, गूढ़, अतिसूक्ष्म सत्यों के बारे में अन्धता या इनके बारे में दोषपूर्ण एकांगी दृष्टि। मनुष्य यदि भिन्न भिन्न रुचि तथा अधिकार के होते है और यदि मानवी मन के स्वरूपत: तीन पहलू हैं, तो फिर शास्त्र के रूप में गीता किसी भी 'कल्याणकृत्' व्यक्ति को तथा उसके मन के किसी भी पहलू को भला क्यों और कैसे अस्वीकृत करेगी? अस्वीकृत तो दूर की बात, मोक्ष-शास्त्र कहलानेवाली गीता किसी के भी मन के किसी भी पहलू की उपेक्षा नहीं करती।

फिर कर्म आदि किसी विशिष्ट मार्ग के प्रति अपने स्वभाव-जन्य परम आसक्ति के कारण बने हुए अपनी अपनी रुचि के मतों को गीता पर लादने हेतु इच्छुक लोग, समाधिजनित प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में, बेचारे शब्दों से बेगारी करवाकर, व्याकरण के आघातों से पूरे-के-पूरे वाक्यों को ढीला करके, बौद्धिक कलाबाजियाँ खाकर, तार्किक तिकड़म लगाकर, आपात-सत्य वकीली दावपेंच लड़ाकर कुछ भी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं या सिद्ध कर लिया – ऐसा सन्तोष मानते हैं।

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अर्थ है उस व्यक्ति के मन के समस्त पहलुओं का विकास होना चाहिए; जिसकी सारी पंखुड़ियाँ खिली हों, उसी को हम पूरी तौर से खिला हुआ कमल कहते हैं, वही निर्दोष विकसन है। कुछ पंखुड़ियों का खिलना और कुछ का न खिलना, सदोष विकसन है। सच कहें तो विकसन या खिलना नहीं है। यह सत्य है कि किसी के मन में विचार का पहलू अधिक प्रबल हो सकता है, तो किसी के मन में भावना का और किसी के मन में इच्छाशक्ति का। उसके अनुसार कोई ज्ञान-प्रधान होगा, तो कोई भक्ति-प्रधान। अर्थात् किसी व्यक्ति का ज्ञान की ओर ज्यादा आकर्षण होगा, तो किसी का भक्ति की ओर तथा किसी का कर्म की ओर। पर, यह केवल 'अधिकता' का प्रश्न है, 'अस्वीकृति' का नहीं। केवल विचारों के, केवल भावना के या केवल इच्छाशक्ति के पहलूवाले मन नहीं होते। इसीलिए पहले ही कहा गया है कि गीता के मतानुसार केवल ज्ञान या केवल भक्ति या केवल कर्म की एकांगी साधना मानवीय मन के गठन की दृष्टि से वस्तुत: सम्भव नही है और वांछनीय तो है ही नहीं।

हाँ तो, इस रीति से विचार (cognition), भावना (conation) और इच्छाशक्ति (volition) – इन तीनों पहलुओ के साथ सम्पूर्ण मन से, उस आद्य वेद-प्रतिपाद्य स्वसंवेद्य आत्मरूप से उन सर्वात्मक प्रभु से, उस हृदयेश्वर से और त्रिभुवनेश्वर से संलग्न, सम्बद्ध या युक्त होने को ही गीता ने 'योग' कहा है।

यह 'योग' जब विचारों से या ज्ञान से साधित होता है, तब उसे 'ज्ञानयोग' कहते हैं, जब भावनाओं तथा भक्ति से साधित होता है तो उसे 'भक्तियोग' कहते हैं और जब इच्छाशक्ति या कर्म से साधित होता है तो उसे 'कर्मयोग' कहते हैं।

* * *

हमने देखा कि जब तक ज्ञान में 'ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान' और भक्ति में 'भक्त-भगवान-भक्ति' का बोध होता है, तब तक गीता के मतानुसार वह ज्ञान तथा भक्ति 'कर्म' की श्रेणी में आते हैं।

और इसीलिए, जिस साधक में विषयी-विषय या अहं-मम का बोध है, उसके ज्ञानयोग, भक्तियोग व कर्मयोग को एक ही श्रेणी में रखकर, भगवती गीता ने साधना की उस अवस्था को 'कर्मनिष्ठा' का अत्यन्त सटीक तथा यथार्थ नाम दिया है।

(केवल इसी कारण गीता में कई बार 'योग' 'कर्मयोग' तथा 'कर्मनिष्ठा' – इन तीनों शब्द समानार्थी के रूप में प्रयुक्त दिखाई देते हैं और गीता द्वारा इच्छित इस विशिष्ट अर्थ की ओर ध्यान न जाने के कारण इस योग, कर्मयोग आदि के बारे में बहुत-से लोगों को स्वाभाविक रूप से भ्रान्ति हो जाती है।)

– ६ –

कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि गीता के मतानुसार साधना अर्थात् साधक को प्रथमत: अपने कर्म के द्वारा प्रभु के साथ 'योग' स्थापित करने का प्रयत्न करना होगा, अपने कर्म द्वारा प्रभु में 'निष्ठा' अर्थात् प्रतिष्ठित होने का प्रयत्न करना होगा।

ऐसा करने वाले को ही भगवान ने कहा है – **ब्रह्मणि आधाय'** – 'ब्रह्म में रखकर' कर्म करना। कर्म उस सर्वातीत-सर्वगत एकमेवाद्वितीय प्रभु में रखकर करना होगा, स्वयं मे रखकर नही; अर्थात् 'मैं-मेरा' बोध से नहीं, बल्कि, 'प्रभो, तू

और तेरा' बोध से; 'निमित्त-मात्र' बनकर; श्रीरामकृष्ण के शब्दों में 'मैं यंत्र, तू यंत्री' बोध से उन्हें करना होगा।

इस तरह के बोध से कर्म से आसक्ति औप उसके फल की अभिलाषा अपने आप ही छूट जाएगी। क्योंकि 'मैं-मेरा' बोध ही कर्मासक्ति तथा फलेच्छा का मूल आधार है। और 'योग' का अर्थ है 'प्रभो, मैं-मेरा नहीं, बल्कि तू-तेरा ही' का बोध।

इसी बात को भगवान ने इस प्रकार भी कहा है – **कर्मणि अकर्म यः पश्येत्** – "जो कर्म में अकर्म देखता है"। कर्म में अकर्म देखने का अर्थ है – 'मैं कर्ता हूँ, इस चीज की मदद से यह कर्म कर रहा हूँ' – कर्ता-कर्म-क्रिया के अपने इस अज्ञान-जनित बोध को 'प्रभु ही कर्ता-कर्म-क्रिया सब कुछ हैं' – इस ज्ञान से प्रकाशित करके कर्म करते जाना।

और ऐसा करने का अर्थ है – ज्ञान, भक्ति तथा कर्म – तीनों का सुन्दर, स्वाभाविक, मधुर समन्वय करके, उनमें स्थित ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, भक्त-भगवान-भक्ति, कर्ता-कर्म-क्रिया अर्थात् उनमें स्थित विषयी-विषय-सम्बन्ध को यथार्थ ज्ञान द्वारा प्रकाशित करके प्रभु में घुल-मिल जाने का प्रयत्न करना।

* * *

ऐसा यत्न करने से – हम हिन्दुओं के अर्थपूर्ण, अति मधुर शब्दों में कहा जाय, तो ऐसी 'साधना' से क्या होता है?

भगवान बताते हैं –

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत् शृणु ।।

– अर्थात् "अपने अपने कर्म में तत्पर रहने से मनुष्य को यथार्थ सिद्धि मिलती है। स्वकर्म में पूर्णतः रत रहनेवाले को सिद्धि किस तरह प्राप्त होती है, वह सुनो।"

ऐसी घोषणा कर स्वकर्म में निरत रहने से सिद्धि कैसे प्राप्त होती है, यह स्पष्ट करते हुए भगवान आगे कहते हैं –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

– अर्थात् "जिससे इन सारे प्राणियों का निर्माण हुआ है और जिसने इस सम्पूर्ण जगत् को ओतप्रोत कर रखा है, स्वकर्मों द्वारा उसकी पूजा करके मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।"

अर्थात् केवल स्वकर्म करने से सिद्धि नहीं मिल सकती, बल्कि उस कर्म का, ज्ञान तथा भक्ति के साथ मेल करके, उन्हें किया जाय, तभी सिद्धि प्राप्त होती है।

हमने देखा कि स्थूल रूप में गीतोक्त साधना का प्राथमिक स्वरूप कैसा होता है। अस्तु, अब भगवान आगे कहते हैं –

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।

– "उस सिद्धि प्राप्त किए हुए साधक को ब्रह्म की किस प्रकार प्राप्ति होती है, यह तुम मुझसे अच्छी तरह जान लो।"

इसका अर्थ है कि 'अपने अपने कर्मों से मिलनेवाली सिद्धि' – 'ब्रह्मप्राप्ति' नहीं है, वह 'ब्रह्मप्राप्ति' से भिन्न है – स्वकर्म से मिलनेवाली सिद्धि उस ब्रह्मप्राप्ति का – यथार्थ अन्तिम भगवत्प्राप्ति के मार्ग का सिर्फ एक विश्रामालय है।

भगवान के इस अभिप्राय को जानकर भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य ने इसीलिए '**स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत् शृणु**' (–स्वकर्म में पूर्णतः रत रहनेवाले को सिद्धि किस तरह प्राप्त होती है, वह सुनो।) उनके इस विधान को विभक्त करते हुए कहा है – '**किं स्वकर्मानुष्ठानतः एव साक्षात् संसिद्धिः? न। कथं तर्हि? स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा, येन प्रकारेण विन्दति, तत् शृणु**' – "केवल स्वकर्म के अनुष्ठान से ही प्रत्यक्ष रूप से या बिल्कुल यथार्थ सिद्धि की प्राप्ति होती है क्या? नहीं। कैसे होती है? तो, स्वकर्म में निरत रहनेवाला कैसे अर्थात् किस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है, उसे सुनो।"

भगवान के इस विधान के '**यथा**' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए श्री शंकराचार्य के समान ही श्रीधर स्वामी, मधुसूदन सरस्वती, शंकरानन्द सरस्वती आदि ने भी '**येन प्रकारेण**' शब्द का प्रयोग किया है।

इसीलिए 'गीतोक्त साधना का प्रारम्भिक या प्रथमावस्था का सामान्य स्वरूप' क्या है – इसे यहाँ तक देखने के पश्चात् अब हम इस साधना द्वारा (ज्ञान-भक्ति से युक्त स्वकर्मानुष्ठान द्वारा) साधक को अन्तिम ब्रह्मप्राप्ति – सच्ची भगवत्प्राप्ति 'कैसे' अर्थात् 'किस प्रकार से' होती है, अर्थात् गीता के अनुसार 'साधना के पथ पर अग्रसर होना' कैसे कैसे होता है, यह श्रद्धा-भक्ति-पूर्ण हृदय से, गुरुकृपा के बल पर भरोसा रखकर, भगवान के शब्दों का अनुसरण करते हुए, यथार्थ मर्म-रहस्य जाननेवाले अधिकारी भाष्यकारों से मार्ग पूछते हुए, यथाशक्ति यथामति आकलन करने का प्रयत्न करें।

❖ (क्रमशः) ❖

कठिनाइयों पर विजय

स्वामी सत्यरूपानन्द

महात्मा गाँधी अफ़्रीका से लौटकर भारत आये। उसके कुछ दिनों पश्चात् प्रथम विश्व युद्ध प्रारंभ हो गया। उस समय अंग्रेजों ने कहा कि आप हमारा साथ दीजिये तो युद्ध समाप्त होने पर हम भारत में आपको स्वायत्त शासन की सुविधायें प्रदान करेंगे। गाँधीजी ने उस समय अंग्रेजों की बात मान ली। किन्तु युद्ध समाप्त होने पर सुविधायें देना तो दूर रहा अंग्रेजों ने उल्टे रोलेट एक्ट का काला कानून भारत पर लाद दिया तथा भारतवासियों को दासता की जंजीरों में और अधिक जकड़ दिया। नागरिकों के सामान्य अधिकार भी छीन लिये। उनके मुँह बंद कर दिये। चारों ओर निराशा छा गई।

किन्तु इन कठिनाइयों की घड़ी में गाँधीजी निराश नहीं हुए। उन्होंने सत्य और अहिंसा का आश्रय ले कर सत्याग्रह का आह्वान किया। उनके आह्वान पर देश जाग उठा। लाखों लोगों ने कमर कस कर इन कठिनाइयों का सामना किया। और यथा समय भारत स्वाधीन हुआ।

गाँधीजी की इस सफलता का रहस्य क्या था? इस सफलता का रहस्य था – वे कठिनाइयों से डरे नहीं। उन्होंने कठिनाइयों का सामना किया। जीवन-संग्राम में विजय का, सफलता का यही मार्ग है कठिनाइयों का सामना करें।

किसके जीवन में कठिनाइयाँ नहीं आतीं? जीवन एक संग्राम है। इसमें कठिनाइयाँ तो आयेंगी ही। किन्तु कठिनाइयों से भाग कर कभी बचा नहीं जा सकता। उनसे भाग कर कभी जीवन-संग्राम में विजय और सफलता नहीं पाई जा सकती। कठिनाइयों से भाग कर आज तक कोई व्यक्ति जीवन में विजयी और सफल नहीं हुआ है। संसार के सभी देशों में जितने भी बड़े बड़े महापुरुष हुए हैं वे इसीलिये बड़े हुए कि उन्होंने जीवन की चुनौतियों को स्वीकार किया। जीवन में आने वाली कठिनाइयों का सामना किया। उन पर विजय पायी। और तभी वे अपने लक्ष्य पर पहुँच सके तथा महान् बने।

जब कभी हम कोई नया कार्य प्रारंभ करते हैं तो प्रारंभ में वह कठिन प्रतीत होता है। किन्तु यदि कठिनाइयों को देखकर हम घबड़ा जायेंगे, भयभीत हो जायेंगे तो जीवन की सामान्य बातें भी हमें कठिन लगने लगेंगी। छोटी छोटी कठिनाइयाँ भी हमें बड़ी लगने लगेंगी। इसका परिणाम यह होगा कि हमारे भीतर की स्वाभाविक शक्तियाँ भी कुंठित हो जायेंगी। हमारी क्षमतायें और योग्यतायें व्यर्थ हो जायेंगी। तथा हम अकर्मण्य हो जायेंगे। हमारा जीवन ही दुखमय और असफल हो जायेगा।

अतः जब कभी हमारे जीवन में कठिनाइयाँ आयें तो उनसे भयभीत नहीं होना चाहिये। घबड़ाना नहीं चाहिये। बल्कि धैर्यपूर्वक उनका सामना करना चाहिये। कठिनाइयों की परीक्षा कर देखना चाहिये कि हम उसे कहाँ से पकड़ सकते हैं? कहाँ उस पर प्रहार कर उसे जीत सकते हैं। यदि हम इस प्रकार कठिनाई की परीक्षा करेंगे तो हम पायेंगे कठिनाई को जीतने का, उसे दूर करने का रास्ता हमें दीख पड़ रहा है। और तब यदि हम कमर कस कर कार्य में लग जाएँ। अध्यवसाय पूर्वक लगे रहें तो हम उन कठिनाइयों को अवश्य दूर कर सकेंगे तथा अपने लक्ष्य तक पहुँच कर सफल हो सकेंगे।

एक बात और। जीवन-संग्राम में विभिन्न प्रकार की छोटी बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। उस समय हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हम सभी कठिनाइयों को एक साथ एक बार में एक झटके में दूर करने का प्रयत्न न करें। ऐसा करने पर हमें निराशा हाथ लगेगी। एक बार में एक कठिनाई को दूर करने पर दूसरी को दूर करना सहज हो जाता है। इस प्रकार रुक रुक कर हम अपनी सभी कठिनाइयों को दूर कर जीवन-संग्राम में यशस्वी एवं विजयी हो सकते हैं।

यही है जीवन-संग्राम में विजयी होने का, सफल होने का रहस्य। कठिनाइयों का सामना करें।

आधुनिक समस्याएँ और उनके प्राचीन समाधान

स्वामी हर्षानन्द

- १ -

जीवन समस्याओं से परिपूर्ण है

जीवन समस्याओं से परिपूर्ण है। केवल दो तरह के लोग ही इससे मुक्त हैं – एक तो वे, जो पूर्णता को प्राप्त करके जगत् के परे जा चुके हैं और दूसरे वे, जो वज्रमूर्ख हैं। विकास के विविध स्तरों में स्थित बाकी सभी मानव इनसे आच्छन्न हैं। और खेद की बात तो यह है कि आधुनिक जगत् में वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति तथा सभ्यता के उच्च स्तर की उपलब्धि के बावजूद समस्याओं में वृद्धि ही हुई। एक ओर जहाँ विश्व समुदाय के कुछ वर्गों में जीवन की मूलभूत सुविधाओं का अभाव चिन्ताजनक है, वहीं अन्य वर्गों में उनका प्राचुर्य पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व को ही खतरे में डाले हुए है।

समस्याएँ और चिन्ताएँ तनावों को जन्म देती हैं। मानसिक तनाव मानव जीवन पर हानिकर प्रभाव डालते हैं और इसके फलस्वरूप बहुधा वह और भी प्रतिकूल कार्य करने को बाध्य होता है। जीवन की स्वाभाविक तथा न्यायसंगत महत्त्वाकांक्षाएँ, अनुभवहीनता के साथ संयुक्त होकर, विशेषकर युवकों को इन तनावों का शिकार बनाती हैं। धूम्रपान, सुरा-सेवन, नशेबाजी, यौन-अनाचार तथा हिंसक मनोवृत्ति – एक रुग्ण मानसिकता के लक्षण हैं। अत: सभी मानवीय समस्याओं – जिनमें मानव-समाज के महत्त्वपूर्ण घटक युवावर्ग की समस्याएँ भी शामिल हैं – से और भी मूलभूत स्तर पर निपटना होगा, और भी मूलभूत समाधान ढूढ़ना होगा।

- २ -

मूलभूत समाधान

हमारे प्राचीन काल के ऋषियों ने ठीक यही किया था। (भारत के इन ऋषियों ने ही 'हिन्दू धर्म' के नाम से सुपरिचित 'सनातन धर्म' का पुनरुद्धार और प्रचार किया था।) मूलभूत समाधान को सभी कालों में सत्य एवं प्रयोज्य होना चाहिए। उनका समाधान था – ईश्वर में गहन श्रद्धा तथा उसके सहवर्ती आदर्शों का विकास। यदि हमें एक बोझ उठाना हो, तो सबसे पहले हमें एक ऐसे दृढ़ आधार की आवश्यकता होगी, जिस पर खड़े होकर बोझ उठाने पर वह उसके भार से खिसक या च्युत न हो जाय। ईश्वर में गहरी निष्ठा हमें एक ऐसा ही आधार प्रदान करती है, जिसमें स्थित होकर हम अपनी समस्त समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना कर सकते हैं।

यह समाधान न तो हास्यास्पद है और न ही एक सम्मोहक शब्दावली में प्रस्तुत प्रच्छन्न पलायनवाद है। जीवन एक गम्भीर वस्तु है और उसके समाधान भी वैसे ही होने चाहिए। यह समाधान हजारों वर्षों तक परीक्षित होकर खरा उतरा है। अत: क्यों न हम भी इसे एक अवसर दें?

- ३ -

ईश्वर-सम्बन्धी हिन्दू धारणा पूर्णतः बुद्धिसंगत है

एक बात प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देना आवश्यक है और वह यह कि ईश्वर-सम्बन्धी हिन्दू धारणा पूर्णत: बुद्धिसंगत है। हिन्दू धर्म का ईश्वर न तो 'जनसाधारण की अफीम' है और न ही 'एक जगदातीत सत्ता' है। वह एक परम बुद्धिमय शक्ति है, जो अपने अन्दर से इस ब्रह्माण्ड का विकास करती है, पोषण करती है और अन्तत: अपने आप में ही विलीन कर लेती है। चरम विश्लेषण मे हम इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उसके साथ अभिन्न जान पाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक खोजें भी क्रमश: सम्पूर्ण सृष्टि की मूलभूत एकता की ओर ही इंगित कर रही है। परमाणु-विज्ञान ने हमें लाकर मानो दर्शनशास्त्र की दहलीज तक पहुँचा दिया है। अत: हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ईश्वर-सम्बन्धी हिन्दू धारणा पूर्णत: बुद्धिसंगत है।

फिर ईश्वर केवल बुद्धिमय शक्ति ही नहीं, बल्कि उसका एक व्यक्तित्व भी है, जिसमें सभी गुण अकल्पनीय मात्रा में विद्यमान हैं। और इस कारण वह मानव-हृदय को अत्यन्त प्रिय है। अपने धर्म की 'पाठ्य-पुस्तकों' – वेद, उपनिषद्, गीता आदि से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों पर विश्वास रखना उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र प्रवेशार्थी को उक्त विषय के प्रामाणिक ग्रन्थों में निरूपित समस्त तथ्यों पर विश्वास करना पड़ता है।

- ४ -

क्या ईश्वर के प्रति श्रद्धा हमारी समस्याओं के समाधान में सहायक सिद्ध हो सकती है?

परन्तु ईश्वर में श्रद्धा भला किस प्रकार हमारे जीवन की समस्याओं को हल करने में सहायक सिद्ध हो सकती है? वस्तुत: अपनी **समस्याओं के समाधान हेतु हमें दो मूलभूत चीजों की जरूरत होती है : उचित समाधान ढूँढ़ निकालने हेतु 'विवेक' की और उसे कार्यान्वित करने के लिए 'शक्ति'**

की। यदि हम ईश्वर में विश्वास रखें और सच्चे हृदय के साथ उनसे प्रार्थना करें, तो हमें इन दोनों की तथा और भी काफी कुछ की उपलब्धि हो जाती है। जिस प्रकार विद्युत पावर-हाउस में उत्पादित होकर हमारे स्विच दबाने पर बल्ब में प्रविष्ट हो जाती है, अथवा जैसे टोंटी घुमाने पर नगर के जलाशय का पानी हमारी बाल्टी में गिरने लगता है, ठीक उसी प्रकार श्रद्धा एवं प्रार्थना के द्वारा हममें महान् प्रज्ञा तथा अद्भुत शक्ति का स्फुरण होगा, जिनकी सहायता से हम अपनी समस्याओं के साथ भलीभाँति निपट सकेंगे। महत्त्व की बात यह है कि हमारी श्रद्धा एवं प्रार्थना की आन्तरिकता के अनुपात में ही हमें उन दिव्य शक्तियों की उपलब्धि होगी।

- ५ -
हिन्दू धर्म तुम्हें परलोक-परायण नहीं बनाता

अपने मन से यह धारणा निकाल डालना ही उचित होगा कि हिन्दू धर्म हमें परलोक-परायण बनाता है और इसके फलस्वरूप हम इहलोक के प्रति उदासीन हो जाते हैं। हमारे धर्म में जीवन के लक्ष्यरूप जिन चार पुरुषार्थों की व्यवस्था दी गयी है, वे विश्व के सामाजिक धार्मिक इतिहास में अनुपम हैं। इसमें धन (अर्थ) और स्वाभाविक इच्छाओं (काम) द्वारा प्राप्त होनेवाले जीवन के स्वाभाविक सुखों से किसी को भी वंचित नहीं किया गया है। पर इनकी परिपूर्ति उसे 'धर्म'-तत्त्व अर्थात् सत्य एवं न्याय के आधार पर करनी होगी। धर्म का पालन करनेवाले को स्वयं भोग करते हुए भी सर्वदा दूसरों की भलाई ध्यान में रखनी पड़ती है। जब इसका ठीक ठीक पालन किया जाता है तो यह व्यक्ति को धीरे धीरे निःश्रेयस् मोक्ष की ओर ले जाता है। आगे चलकर इस पर और भी चर्चा होगी।

- ६ -
धर्म क्या है ?

सभी पुरुषार्थों के आधार इस 'धर्म' शब्द का अर्थ है – 'वह जो सबको धारण करे।' अतः सार रूप में इसके लक्ष्यार्थ स्वयं ईश्वर ही हैं, परन्तु सामान्य तौर पर इसका अर्थ है – वह ईश्वरीय नियम जो ब्रह्माण्डीय तथा सामाजिक-वैयक्तिक दोनों ही स्तरों पर क्रियाशील है। इनमें से पहले को 'ऋत' और दूसरे को 'धर्म' के नाम से अभिहित किया गया है। 'ऋत' सृष्टि के विविध तत्त्वों को संयुक्त रखता है और उनकी गति एवं पारस्परिक क्रिया को नियमित करता है।

'धर्म' शब्द भी ऋत से ही व्युत्पन्न हुआ है, जिसे व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तर पर व्यवहार में लाया जाता है, ताकि व्यक्ति अपनी पूर्णता की खोज में लगा रहे और समाज उसके लिए उचित पर्यावरण की सृष्टि करता रहे। इसके फलस्वरूप 'वर्ण' और 'आश्रम' नामक दो अत्यद्भुत व्यवस्थाओं का विकास हुआ है।

- ७ -
जीवन की अवस्थाएँ

आश्रम-व्यवस्था व्यक्ति को क्रमशः जीवन की चार अवस्थाओं में से होकर ले जाती है। इनमें से प्रत्येक अवस्था मानो उक्त अवस्था के प्रशिक्षण तथा अगली अवस्था के लिए तैयार करने की एक सहज व्यवस्था है। **ब्रह्मचर्य-आश्रम** नामक पहली अवस्था के दौरान प्राप्त प्रशिक्षण, व्यक्ति के लिए न केवल बौद्धिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होता है, अपितु उसमें अति आवश्यक नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का भी विकास करता है, जिनमें 'आत्मसंयम' मानो आधारभूमि के समान है। ये उपलब्धियाँ उसे सुरक्षापूर्वक **गृहस्थ-आश्रम** अर्थात् वैवाहिक जीवन में प्रवेश करने में सहायक सिद्ध होती हैं। यहाँ पर भी परिवार का निर्माण और पालन जितना महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है, उतना ही आवश्यक आत्मसंयम का अभ्यास भी है। इस आश्रम में उससे एक मर्यादित और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी जीवन बिताने के साथ-ही-साथ यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह समाज के प्रति अपने विभिन्न कर्तव्यों को पूरा करेगा। जीवन की प्रथम अवस्था में सीखी हुई साधना के निरन्तर अभ्यास तथा गृहस्थ जीवन के विविध अभ्यास तथा अनुभव, इस अवस्था की समाप्ति तक व्यक्ति में यथेष्ट परिपक्वता एवं वैराग्य ला देने में सहायक होते हैं। और तदुपरान्त वह अपनी घर-गृहस्थी को त्यागकर वन की ओर प्रस्थान कर सकता है। इसे **वानप्रस्थ-आश्रम** अथवा वनवासी तपस्वी की अवस्था कहा जाता है। फिर और भी वैराग्य तथा तीव्र मुमुक्षुत्व का विकास होने पर वह एक **संन्यासी या परिव्राजक का जीवन** अपनाने को आकृष्ट होता है। इस अवस्था में वह सामान्य जीवन के अपने कर्तव्यों तथा जिम्मेदारियो से उन्मुक्त होकर आध्यात्मिक आलोक के लिए यथासाध्य प्रयास करता है।

वस्तुतः वर्तमान काल में केवल पहली दो अवस्थाएँ ही बच रही हैं और वे भी अब परिवर्तित एवं विकृत हो चुकी हैं। चौथी अवस्था कोई बिरला ही चुनता है।

- ८ -
सामाजिक व्यवस्था

यदि समाज एक ऐसे पर्यावरण की सृष्टि कर सके, जिसमे व्यक्ति को पूर्णता की ओर विकसित होने मे सहायता मिले, तो उसका पथ बड़ा ही सहज-सुगम हो जाता हे। वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति को सामाजिक स्थिरता प्रदानकर उसके लिए सुरक्षा-प्राचीर का कार्य करती है। वह व्यवस्था व्यक्ति के गुण तथा स्वभाव के अनुसार श्रम के प्राकृतिक विभाजन का एक आधार

प्रदान करती है। तदनुसार जो लोग 'सादा जीवन और उच्च विचार' के आदर्श को अपनाकर ज्ञान के अर्जन और प्रसार में लग गए, उन्हें **ब्राह्मण** कहा गया। जिन लोगों ने समाज की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने, आन्तरिक कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने तथा न्याय प्रदान करने का दुस्सह कार्य को हाथ में लिया, वे **क्षत्रिय** कहलाए थे। फिर जिन लोगों ने खेती की उपज तथा अन्यान्य वस्तुओं और धन-सम्पदा के उत्पादन व वितरण का उत्तरदायित्व सम्भाला, उन्हें **वैश्य** की आख्या दी गयी। और जिन बाकी लोगों ने समाज को शारीरिक श्रम प्रदान किया, वे **शूद्र** के रूप में परिचित हुए।

कालान्तर में यह **वर्ण-व्यवस्था** प्राय: पूर्णतया आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त व्यवसायों पर आधारित होकर अनेक वर्गों में विभाजित हो गयी और इस प्रकार इसका **'जाति-व्यवस्था'** में रूपान्तरण हो गया।

वर्तमान काल में प्रत्येक व्यवसाय का द्वार सबके लिए उन्मुक्त हो चुका है, अत: अब यह प्रथा अप्रासंगिक हो गयी है। यहाँ पर यह बता देना उचित होगा कि हिन्दू धर्म का इस प्रथा से कुछ भी लेना-देना नहीं है। और तुम चाहे स्वीकार करो या न करो, परन्तु वर्ण-व्यवस्था अब भी अपने मूल रूप में जीवित है, क्योंकि यह सभी समाजों में व्यक्तियों का उनके व्यक्तिगत गुणों और व्यवसायों के आधार पर कुछ विशिष्ट प्रकारों में स्वाभाविक वर्गीकरण है।

- ९ -

हमारी समस्याओं के समाधान की 'रामबाण औषध'

तुमको लग रहा होगा कि हम विषयान्तर करके मूल प्रश्न से तुम्हारा ध्यान हटा रहे हैं। परन्तु बात ऐसी नही है। अपने धर्म तथा संस्कृति के बारे में हमारी समझ को आच्छन्न करने वाले अनेक भ्रान्त विचारों एवं पूर्वाग्रहयुक्त धारणाओं को दूर करने हेतु ऐसे 'विषयान्तर' आवश्यक हैं।

अब हम अपने मूल प्रश्न पर आते हैं। क्या हमारे धर्मग्रन्थ हमारी समस्याओं के समाधान हेतु कुछ सहज और व्यावहारिक सुझाव, कुछ 'रामबाण औषध' प्रदान करते हैं? हाँ, अवश्य करते हैं। वैदिक काल के एक विद्यार्थी की शिक्षा पूरी हो जाने पर, उसके घर लौटने के पूर्व आचार्य उसे पहला उपदेश देते हैं – **सत्यं वद, धर्मं चर** – अर्थात् 'सत्य बोलना तथा धर्म के अनुसार आचरण करना।' पाँच हजार वर्षो से भी अधिक पहले दिया गया यह उपदेश आज भी प्रासंगिक है।

आज के झूठ-फरेब के परिवेश में जन्मे और पले हमारे 'आधुनिक बहादुर' लोग स्वाभाविक रूप से ही इसे हास्यास्पद कहकर उड़ा देगे। परन्तु बहुधा हास्यास्पद-सी लगनेवाली सहज चीजों के भीतर ही महानतम सत्य छिपा रहता है।

- १० -

सत्य क्यों ?

आज यहाँ तक कि बच्चे भी (जो जानबूझकर या अज्ञान-वश अपने माता-पिता तथा बड़े लोगों के द्वारा झूठ बोलने की कला में भलीभाँति प्रशिक्षित हो चुके हैं) एक सहज-सा प्रश्न पूछ बैठते हैं – "हम सत्य बोलकर क्यों अपनी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करें? क्या पूरा जगत् ही असत्य और बेइमानी का सहारा लेकर समृद्ध नहीं होता जा रहा है?"

"सत्य सबका सार है, अत: झूठ बोलना हमारी आध्यात्मिक उन्नति को रोक देगा" – सन्त-महात्माओं का यह उत्तर आज के बुद्धिजीवी वर्ग को जरा भी स्वीकार्य न होगा। वे लोग बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ यह समझ लेते है कि बड़ी बड़ी बातें बघारने वाले बहुधा आचरण से ओछापन दिखाते हैं। पर वे लोग यदि अपने उपदेश के अनुसार आचरण करें, तो भी ये लोग इन उपदेशों की सच्चाई पर दिल से विश्वास न कर सकेंगे।

आओ, अब हम प्रश्न के व्यावहारिक पक्ष की मीमांसा करें। युक्ति के लिए यदि हम मान लें कि हर व्यक्ति एक दूसरे से प्रत्येक विषय पर झूठ बोलना आरम्भ कर देता है : डॉक्टर रोगियों से उनकी बीमारी के बारे में झूठ बोलता है और उन्हें गलत दवाइयाँ लिख देता है, औषध-विक्रेता भी जान-बूझकर कुछ दूसरा ही या कोई विषैली वस्तु ही दे देता है, एक शिक्षक स्कूल के बच्चो को किसी विषय पर अनाप-शनाप बताता है, एक पत्नी लम्बी यात्रा पर गए अपने पति को एक झूठा तार भेज देती है। अब इन सबका क्या फल होगा? पूरी अव्यवस्था फैल जाती है। इस प्रकार हमने देखा कि समस्या की जड़ कहाँ है ! यदि हमारे हाथ में क्षमता रही, तो इस तरह झूठ बोलकर हमें तरह तरह की परेशानियों में डालनेवालों को हम शायद उनके अपराध के दण्डस्वरूप उनकी गरदन ही उड़ा डालें ! तो फिर क्या हमने स्वत: ही सत्य की महत्ता नहीं स्वीकार कर ली? अत: झूठ बोलने का निश्चय करने के पूर्व हमें चाहिए कि हम स्वयं को उस दूसरे व्यक्ति की अवस्था में कल्पना करके, उसके भयावह दुष्परिणामो की बात सोचें।

फिर यह भी नही कहा जा सकता कि हम जब चाहे अपनी सुविधानुसार झूठ या सच बोल सकते है। यदि तुम आग की लपटों पर अपना हाथ रखकर कहो कि अग्नि नहीं जलाती, तो क्या तुम ऐसी आशा कर सकते हो कि वह नहीं जलाएगी?

अत: सत्य जब अपने दैनन्दिन जीवन के लिए इतना आवश्यक प्रतीत होता है, तो फिर अपने जीवन के सर्वांगीण दृष्टिकोण के लिए यह कितना महत्त्वपूर्ण होगा ! प्राचीन ऋषियों के शब्द उनके विवेक से उत्पन्न हुए हैं और हजारों वर्ष तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी परीक्षित हुए हैं, अत: उन्हें भुला देने का फल दु:खदायी होगा।

- ११ -

जीवन के तीन सिद्धान्त

आओ, अब हम दूसरे आदेश पर गौर करें। वह है – '**धर्मं चर**' – अर्थात् 'धर्म के अनुसार आचरण करो।' यहाँ पर 'धर्म' शब्द को उससे व्युत्पत्तिक (मूलभूत) अर्थ में लेना होगा – अर्थात् जिस प्रकार वह व्यक्ति पर प्रयुक्त होता है, परन्तु साथ ही समाज को भी प्रभावित करता है। अपने ऋषियों द्वारा प्रदत्त विविध विधियों तथा व्यवस्थाओं में से तीन की हम यहाँ विशेष रूप से चर्चा करेंगे। इन्हें 'जीवन के सिद्धान्त' कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा। इन सिद्धान्तों में हमारे वर्तमान समाज की समस्याओं को हल करने की असीम सम्भावनाएँ निहित हैं। आज के समाज ने हल की हुई प्रत्येक समस्या के स्थान पर अनेक नई नई समस्याएँ उत्पन्न करके मानो अव्यवस्था उत्पन्न करने में दक्षता प्राप्त कर ली है।

'अहिंसा' और 'दया' शब्दों द्वारा अभिप्रेत सार्वलौकिक प्रेम जीवन का पहला सिद्धान्त है। घृणा से निपटने का यही सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक सुरक्षित उपाय है। घृणा की भावना अधिकाधिक घृणा को जन्म देती है। हिंसा की भावना अधिकाधिक हिंसा की सृष्टि करती है। अत: जिस प्रकार अग्नि को अग्नि से नहीं, अपितु जल से बुझाया जाता है, उसी प्रकार घृणा को भी प्रेम के द्वारा ही शान्त किया जा सकता है।

यातायात तथा दूरसंचार के अद्भुत साधनों के इस युग में, जबकि जगत् मानो सिमट सा गया है, यह देखकर विस्मय होता है कि व्यक्तियों में हिंसा और राष्ट्रों में युद्ध की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। परन्तु इस पर ज्यादा विस्मय करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि कहते हैं – "युद्धों का जन्म लोगों के मन मे ही होता है।"

हममें से हर कोई चाहता है कि मुझे स्नेह मिले, मेरी देखभाल हो, मुझसे घृणा न हो और मुझ पर कोई अत्याचार न करे। यदि हम इस विषय में सचमुच ही गम्भीर हैं, तो हमारा सबसे पहला कदम यह होगा कि हम अपने भीतर की समस्त घृणा तथा दुर्भावना को निकाल डालें और सबको सच्चे हृदय से प्रेम करें। इसके फलस्वरूप क्रमश: हमारे चारों ओर शान्ति का एक अद्भुत वातावरण विकसित हो जाएगा और अपनी परिधि में आनेवाले सभी लोगों को प्रभावित करेगा। यह कल्पना मात्र नहीं, सत्य है। श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द अथवा रमण महर्षि जैसे महापुरुषों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य पानेवाले सैकड़ों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है।

'**अस्तेय**' (चोरी न करना) तथा '**अपरिग्रह**' (उपहार न लेना) का लक्ष्यार्थ है – **लोभ का संयमन तथा निर्मूलन और उसके साथ ही सन्तोष का अभ्यास करना – जीवन का दूसरा सिद्धान्त है।** हमारे समाज की अधिकांश आर्थिक समस्याएँ मूलत: लोभ के कारण ही जन्म लेती हैं; फिर यह लोभ चाहे व्यक्तियों का हो, समुदायों का हो अथवा राष्ट्रों का। मानवीय लोभ के प्रत्यक्ष फल के रूप में ही करोड़ों लोग दरिद्रता की चक्की में पीसे जाते हैं और इसी लोभ के चलते औद्योगिक इकाइयाँ अपने अवशिष्ट पदार्थों को जल तथा वायु में विसर्जित कर पर्यावरण में असन्तुलन पैदा करती है, जिसके परिणामस्वरूप असंख्य निरीह प्राणी अपंगता और मृत्यु के शिकार होते हैं। अत: हमें चाहिए कि 'जो चीज हमारी नहीं है उसे न लेने की' तथा 'अपनी आवश्यकता से अधिक चीजें न संग्रह करने की' नीति का पालन करें और साथ ही इस ओर भी ख्याल रखें कि कहीं हम लोभवश या अपने स्वार्थ के लिए प्रकृति या अन्य प्राणियों का शोषण तो नहीं कर रहे हैं। ऐसा होने पर हमें स्वर्ग का राज्य अभी और यहीं प्राप्त हो जाएगा। और नहीं तो प्रयोग के तौर पर ही सन्तोष का अभ्यास तथा अपने जीवन पर इसका अद्भुत प्रभाव देख लीजिए।

और अन्तिम तथा समान रूप से महत्त्वपूर्ण **तीसरा है – कामनाओं पर नियन्त्रण का सिद्धान्त, जिसे हम 'ब्रह्मचर्य' के नाम से जानते हैं।** यदि चूल्हे में जलनेवाली आग को असीम स्वाधीनता मिल जाय, तो वह अल्प काल में ही पूरे घर को जलाकर भस्म कर देगी। कामशक्ति जीवों की वंशवृद्धि हेतु प्राप्त एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है और यदि उसे असंयमित अभिव्यक्ति दी जाय, तो वह जाति का विनाश कर डालती है। यौन रोगों का प्रसार, जीवन को खतरे में डालकर गर्भपात कराने की प्रथा और अवांछित बच्चों की भरमार, जो बड़े होकर किशोरापराध एवं हिंसा में लिप्त होते है तथा अपराधी दलों में संगठित होते हैं – ये सब उक्त हिमशैल के छोर मात्र है। इसका सबसे बड़ा खतरा तो यह है कि वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का और जाति की जीवनी-शक्ति का विनाश कर देता है।

क्या कभी कुत्तों में यौन रोग अथवा बिल्ली के बच्चों में किशोरापराध की बातें सुनी गयी है? **हम क्यों न जीव-जन्तुओं से भी दो-एक पाठ सीख लें?**

यदि हमें इसकी उपलब्धि करनी हो, तो आधुनिक मानव-समाज को अपनी जीवन-धारा की दिशा ठीक करनी होगी। पूर्वप्रदत्त उदाहरण के अनुसार हम स्वयं ही अपना हाथ आग में डालकर, ऐसी शिकायत नहीं कर सकते कि यह जला रही है। यदि विज्ञान और तकनीकी की अधुनातन खोजों द्वारा विकसित समस्त दृश्य-श्रव्य को निरन्तर मानव की क्षुद्र पाशविक कामनाओं की सन्तुष्टि में लगाकर उसे अधोगामी किया जाय, तो ऐसे समाज की भगवान ही रक्षा करें! या फिर यह भी सम्भव है कि वे भी इसे सुधारने के अयोग्य मानकर सरलतर मार्ग ही अपनावें अर्थात् इसका पूर्णत: विनाश कर नए सिरे से सृष्टि-रचना करें! और चूँकि वे बड़े बुद्धिमान हैं, वे शायद

हमें स्वयं ही अपना विनाश करने देंगे, ताकि उन पर दोषारोपण न किया जा सके। अस्तु, मानव जाति को अपने ही सर्वोच्च हित में, इस परम शक्तिशाली प्राकृतिक प्रवृत्ति के मूलभूत उद्देश्य पर आधारित एक सन्तुलित काम-व्यवस्था की ओर लौटना ही होगा।

- १२ -
परम समाधान

यहाँ पर यह बता देना आवश्यक होगा कि हिन्दू धर्म ने जीवन की समस्त समस्याओं का एक परम समाधान प्रस्तुत किया है और वह है **मोक्ष की संकल्पना**। चूँकि हमारी सारी समस्याएँ देह-मन से उदित होती हैं, अतएव उनके परे चले जाना ही परम समाधान है। इसके फलस्वरूप न केवल दु:ख-कष्ट से छुटकारा मिलता है, अपितु स्वच्छन्द आनन्द की भी प्राप्ति होती है। इसकी उपलब्धि के लिए 'योग' की विधि का विधान किया गया है।

- १३ -
कुछ व्यावहारिक सुझाव

हिन्दू जीवन-दर्शन को आधार बनाकर अब हम दैनन्दिन जीवन में पालनीय कुछ व्यावहारिक संकेत प्राप्त करेंगे –

१. उचित भोजन और व्यायाम के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखना होगा। इस दिशा में योगासन और सूर्य-नमस्कार बड़े उपयोगी हैं। अति का सर्वत्र वर्जन करना चाहिए। आहार, निद्रा, भोग तथा कर्म व व्यायाम में भी सर्वत्र मध्य-पन्था का अनुसरण ही श्रेयस्कर है।

२. कार्य में यथेष्ट कुशलता और योग्यता प्राप्त करने का प्रयास करो। परन्तु इस ओर अत्यधिक रुझान से यदि जीवन के अन्य आवश्यक क्षेत्रों में बाधा पड़ती हो, तो उसमें संयम बरतना ही उचित है। एक सुन्दर और शान्तिपूर्ण जीवन बिताकर, भावी आकस्मिक संकटों के लिए प्रावधान हेतु जितने धन की जरूरत है, उसके अधिक धनोपार्जन के लोभ पर अंकुश लगाओ। इसके अतिरिक्त यथासम्भव दूसरों की सहायता करने का प्रयास करो।

३. दर्शन, तर्कशास्त्र तथा सामाजिक विज्ञानों के अल्पाधिक अध्ययन के द्वारा अपनी बुद्धि का विकास करो। परन्तु यहाँ भी वह आदर्शवाक्य स्मरण रहे – 'अति सर्वत्र वर्जनीय है।' शुष्क तर्क-वितर्क और दर्शन-मात्र बहुधा ईश्वर में विश्वास का नाश कर हानिकर सिद्ध होते हैं।

४. कला की गुणग्राहकता – विशेषकर उच्चकोटि के संगीत, नृत्य, नाटक या चित्रकला के रसास्वादन की क्षमता विकसित करो। ऐसी कलाएँ हमें उच्चतर सौन्दर्यानुभूति में उन्नति कर हमारे आध्यात्मिक विकास में सहायक होती हैं। साथ ही मन को अधोगति की ओर ले जाने वाली निकृष्ट प्रकार की कलाओं से निर्ममतापूर्वक दूर रहना होगा।

५. सुबह और शाम के समय प्रार्थना व ध्यान का अभ्यास परम आवश्यक है। एक अति सहज विधि निम्नलिखित है –

मेरुदण्ड और सिर को सीधा रखते हुए पलथी मारकर बैठो। आँखें मूँद लो। अब एक ज्योतिर्मय प्रभामण्डल की कल्पना करो, उसके भीतर अपने को सर्वाधिक प्रिय लगनेवाले किसी भी देवी या देवता के जीवन्त और सचेतन रूप की कल्पना करो। यह स्मरण रहे कि यद्यपि इन देवताओं के नाम-रूप में भेद है तथापि उन सभी के पीछे एक ही परमेश्वर विद्यमान हैं। अपने देवता से जीवन की उत्कृष्ट वस्तुओं और विशेषकर उन गुणों के लिए प्रार्थना करो जो नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास में सहायक हैं। तब उनके रूप का ध्यान करने का प्रयास करते हुए उसके साथ ही कम-से-कम १०८ बार उनके नाम का जप करो। इस प्रक्रिया के उपसंहार के रूप में पुष्प और धूप के द्वारा अपने पूजा-कक्ष में विराजित मूर्ति या चित्र की प्रत्यक्ष या मानसिक रूप से छोटी सी पूजा करो।

देवता के नाम के स्थान पर सुयोग्य अधिकारी लोगों से सीखकर वेद के सुप्रसिद्ध गायत्री मंत्र को भी अपनाया जा सकता है।

६. सार्वभौमिक प्रेम व दया, सन्तोष एवं लोभहीनता और कामनाओं का दमन – जीवन के इन तीन सिद्धान्तों का पालन करने का यत्नपूर्वक प्रयास करो। प्रतिदिन रात में सोने के पूर्व उस दिन की प्रगति का आकलन करने के लिए कुछ मिनट का समय देना आवश्यक है। असफलताओं से हताश न होकर बारम्बार चेष्टा करो। और भी बेहतर करने का संकल्प लेकर अगला दिन शुरू करो। साथ ही मन में बारम्बार यह भाव लाओ कि मैं प्रतिदिन सभी दृष्टियों से उन्नति करता जा रहा हूँ।

- १४ -
निष्कर्ष

यह सब एक ममतामयी माँ की भावुकतापूर्ण सलाह मात्र नहीं हैं। ये बातें कितनी अच्छी हैं, यह तो तभी मालूम होगा, जब तुम गम्भीरतापूर्वक इन्हें अपनाकर इनका अभ्यास करो।

जगत् को एक दिन में नहीं बदला जा सकता। परन्तु यदि सच्चे दिल से प्रयास करो, तो तुम अपने जीवन को सुधार सकते हो और तब तुम्हें बोध होगा कि जगत् भी धीरे धीरे सुधर रहा है। अत: पहले अपने से ही आरम्भ करो। साथ ही यदि कर सको, तो अपने परिवार के सदस्यों तथा अन्तरंग मित्रों को भी प्रभावित करने की कोशिश करो।

बोलो, करोगे न?

(अनुवादक – स्वामी विदेहात्मानन्द)

भारतीय दर्शन का रचनात्मक पक्ष

स्वामी आत्मानन्द

कहावत है – 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि'; मनुष्य जिस प्रकार देखता है, ससार उसे उसी प्रकार दिखायी देता है। जिसके मन में उल्लास भरा है, वह बाहर दुनिया में भी उल्लास देखता है और जो अपने भीतर नैराश्य का अनुभव करता है, वह बाहर भी निराशा का ही अन्धकार देखता है। **भारतीय दर्शन हमें ऐसी दृष्टि प्रदान करता है, जिसमें आशा, उल्लास, बल, शौर्य, सौन्दर्य और जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का माधुर्य भरा है।** भारतीय दर्शन को पलायनवादी कहनेवाले लोग वास्तव में उसके तात्त्विक स्वरूप से अनभिज्ञ है। डॉ. राधाकृष्णन् अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' की प्रस्तावना में लिखते हैं – "भारतीय विचारधारा के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में अत्यधिक अज्ञान है। आधुनिक विचारकों की दृष्टि में भारतीय दर्शन का अर्थ है – माया अर्थात् संसार एक मायाजाल, कर्म अर्थात् भाग्य का भरोसा और त्याग अर्थात् तपस्या की अभिलाषा से इस पार्थिव शरीर को त्याग देने की इच्छा आदि दो-तीन 'मूर्खतापूर्ण' धारणाएँ मात्र, कोई गम्भीर विचार नहीं, ... किन्तु एक बुद्धिमान विद्यार्थी जो दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति की अभिलाषा रखता है, भारतीय विचारधारा के अन्दर एक ऐसे अद्वितीय सामग्री-समूह को ढूँढ़ निकालता है, जिसका सानी सूक्ष्म विवरण और विविधता दोनों की दृष्टि से ही ससार के किसी भी भाग में नहीं मिल सकती। संसार भर में सम्भवतः आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि अथवा बौद्धिक दर्शन की ऐसी कोई भी ऊँचाई नहीं है कि जिसका सममूल्य पुरातन वैदिक ऋषियों और अर्वाचीन नैयायिकों के मध्यवर्ती विस्तृत ऐतिहासिक काल में न पाया जाता हो।" वास्तव में, वैदिक कवियों की निश्छल सूक्तियों, उपनिषदों की अदभुत सांकेतिकता, बौद्धों का विलक्षण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और शकराचार्य का विस्मय-विमुग्धकारी दर्शन – ये सब एक ओर सास्कृतिक दृष्टि से जैसे अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद हैं, वैसे ही दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से बड़े ही रचनात्मक हैं।

भारतीय दर्शन पर एक प्रमुख कटाक्ष यह किया जाता है कि वह निराशावादी है और इस ससार को हेय मानता है तथा अदृश्य आध्यात्मिक कल्याण की आड़ में जीवन को नकारता है। ऐसा कटाक्ष उन लोगों के द्वारा किया जाता है, जिनकी दृष्टि सतही होती है और जो शरीर को ही सब कुछ मानते हैं तथा उससे भिन्न व्यक्ति का अन्य कोई आयाम नहीं स्वीकारते। पर यह एक बहुत स्थूल दृष्टि है। भले एक शिशु अपने को मात्र एक शरीर समझे, पर मनन की क्षमता से युक्त बुद्धिशील मानव अपने को मात्र एक शरीर नहीं समझेगा। वह पाश्चात्य चिन्तकों के अनुसार अपने को देह और मन की युति भी नहीं मानेगा, प्रत्युत भारतीय दर्शन के इस सिद्धान्त का कायल होगा कि उसके **देह और मन से भी एक उच्चतर आयाम है, जिसे भारतीय दर्शन ने आत्मा कहकर निरूपित किया है।** आत्मा का स्वीकरण देह और मन का अस्वीकरण नहीं है, बल्कि यह समझना है कि परिवर्तनशील देह और मन का साक्षी यह अपरिवर्तनशील आत्मा है, जो मेरा वास्तविक स्वरूप है। **आत्मा वह सिन्धु है, जिसके वक्ष पर मन की लहर और देह का बुलबुला तैरते हैं।** यह बुलबुला अपने को सागर से पृथक् समझे, तो उसका भयभीत होना स्वाभाविक है कि मैं फूटकर शून्य हो जाऊँगा। यह दृष्टि-दृष्टि का अन्तर है। भारतीय दर्शन हमें अपनी अनन्तता का बोध कराता है। भारतीय दर्शन के इस रचनात्मक पक्ष को अपनी अमोघ वाणा में अभिव्यक्ति देते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "तुम प्रभु की सन्तान, अमर आनन्दं के हिस्सेदार, पवित्र और पूर्ण हो। ऐ पृथ्वी-निवासी ईश्वर-स्वरूप भाइयो, तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, यह कथन मानव-स्वरूप पर एक लांछन है। ऐ सिंहो, आओ और अपने तईं भेंड़-बकरी होने का भ्रम दूर कर दो। तुम अमर आत्मा, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव, शाश्वत और मगलमय हो। तुम जड़ नहीं हो, तुम शरीर नहीं हो, जड़ तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं।"

भारतीय दर्शन मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराकर उसके भय को दूर करने का अमोघ शस्त्र प्रदान करता है। मृत्यु-भय से बढ़कर और कौन-सा भय हो सकता है? पर इस मृत्यु-भय को भी दूर करने का दावा यह दर्शन करता है। उपनिषद् के ऋषि मृत्यु-भय को जीतने का उपाय प्रदर्शित करते हुए गा उठते हैं –

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्यमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

– 'मैंने उस महान् आदित्य-वर्ण पुरुष को जान लिया है, जो समस्त अज्ञान-अन्धकार से परे है। केवल उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु की विभीषिका को पार करता है। इसका और कोई दूसरा रास्ता नहीं है।'

भारतीय दर्शन हमें सतत इसका स्मरण दिलाता रहता है कि हमारे पीछे अनन्त शक्ति और शान्ति का सागर है तथा यह कि हम अपने इस असीम स्वरूप का, अपने भीतर विद्यमान उस महान् आदित्य-वर्ण पुरुष का अनुभव इसी जीवन में कर सकते हैं – '**अत्र ब्रह्म समश्नुते**', '**इहैव तैर्जितः सर्गः**' आदि।

जो भारतीय दर्शन को भाग्यवादी निरूपित करते हैं, वे उसके कर्म-सिद्धान्त को यथार्थतः न समझ सकने के कारण ही ऐसा करते हैं। **जो दर्शन मरण पर्यन्त कर्म करने की प्रेरणा दे, वह क्या भाग्यवादी हो सकता है?** भारतीय दर्शन के सभी अग इस बात पर बल देते हैं कि व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ और साधन द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिए। ईशावास्य-उपनिषद् के दूसरे मंत्र में हम ऋषि का आह्वान सुन पाते हैं – '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः** – इस संसार में कर्म करते हुए ही मनुष्य सौ वर्ष जीने की अभिलाषा करे।' **भारतीय दर्शन कर्तव्य पर अधिक जोर देता है और अधिकार पर कम।** उसका मन्तव्य है कि यदि मनुष्य अपने कर्तव्य का निर्वाह उचित रीति से करेगा, तो उसे अधिकार अपने आप प्राप्त होगा। हम अपने अधिकारों के लिए तो नारा बुलन्द करते हैं, पर कर्तव्य के पालन से मुँह मोड़ते हैं। यही कारण है कि देश में आज चरित्र का संकट उपस्थित हो गया है। इस संकट से उबरने के लिए हमें ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जो हमारी कर्तव्य-बुद्धि को जगाए और स्वार्थ के गर्त से हमें बाहर निकाले। इसके लिए निःस्वार्थ उद्दाम कर्मठता की आवश्यकता है और इसकी सही प्रेरणा हमें भारतीय दर्शन से प्राप्त हो सकती है।

भारतीय दर्शन हमें **नैतिकता का भी ठोस आधार प्रदान करता है।** जो सबके सामने **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति** और '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' का आदर्श रखे, उससे बढ़कर नैतिक अवस्था और क्या हो सकती है? उसकी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य वह है, जो अपने ही समान सबको देखता है। इससे बढ़कर नैतिक आचरण और क्या हो सकता है? जो भारतीय दर्शन के इस उदात्त चिन्तन से अनभिज्ञ हैं या जो उसे समझ नहीं पाते, वे ही इस पर नीतिहीनता का आरोप लगाया करते हैं।

भारतीय दर्शन का सबसे सबल रचनात्मक पक्ष वह है, जो **विश्व को एक कुटुम्ब के रूप में देखने की सीख देता है।** यह दर्शन धर्म, जाति, लिंग, भाषा, प्रान्त या देश के आधार पर मानव-मानव में फर्क नहीं करता। उसके लिए सभी एक ही आत्मा के विभिन्न रूप हैं, इसलिए वह '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' के आदर्श पर बल देता है। वह '**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**' का सपना देखता है, जहाँ सारा विश्व एक नीड़ बन जाता है। इसकी इसी उदारता और सर्व-व्यापकता ने भारत को विश्व में अमर बना दिया है। **भारत पुराकाल से संघर्षरत विश्व के पास अपना शान्ति का अमोघ सन्देश सुनाता रहा है।** यही कारण है कि जहाँ विश्व के अन्य राष्ट्र अपने नये भाव के प्रचार के लिए रणभेरी के निर्घोष और रण-सज्जा से सज्जित सेना-समूह की सहायता लेते रहे, भारत इस उपाय का अवलम्बन किये बिना ही हजारों वर्षों से अपने विश्व-मैत्री और विश्व-बन्धुत्व के उदात्त भाव का शान्तिपूर्वक प्रचार करता हुआ जीवित रहा है। उसका प्रभाव धरती पर सर्वदा मृदुल ओस-कणों की भाँति बरसा है – नीरव और अव्यक्त, पर सर्वदा धरती के सुन्दरतम सुमनों को विकसित करनेवाला। जब यूनान का अस्तित्व नहीं था, रोम भविष्य के अन्धकार-गर्भ में छिपा हुआ था, जब आधुनिक यूरोपियनों के पुरखे घने जंगलों के अन्दर छिपे रहते थे और अपने शरीर को नीले रग से रँगा करते थे, तब भी भारत क्रियाशील था। उससे भी पहले, जिस समय का इतिहास में कोई लेखा नहीं है, उस काल से लेकर अब तक न-जाने कितने ही भाव एक के बाद एक भारत से प्रसृत हुए हैं, पर उनका प्रत्येक शब्द आगे शान्ति तथा पीछे आशीर्वाद के साथ कहा गया है। **संसार के सभी देशों में केवल एक हमारे ही देश ने लड़ाई-झगड़ा करके किसी देश को पराजित नहीं किया है।** यह भारतीय दर्शन का ही शुभ आशीर्वाद है और इसी से हम अभी तक जीवित हैं।

एक समय था, जब यूनानी सेना के रण-प्रयाण के दर्प से ससार काँप उठता था। पर आज वह कहाँ है? आज तो उसका चिह्न तक कहीं दिखायी नहीं देता। यूनान देश का गौरव आज अस्त हो गया है। एक समय था जब प्रत्येक पार्थिव भोग्य वस्तु के ऊपर रोम की श्येनांकित विजय-पताका फहराया करती थी। रोमन लोग सर्वत्र जाकर मानव-जाति पर प्रभुत्व प्राप्त करते थे। रोम का नाम सुनते ही पृथ्वी काँप उठती थी, पर आज उसी रोम का कैपिटोलाइन पहाड़ एक भग्नावशेष का ढूह मात्र है। जहाँ सीजर राज्य करता था, वहाँ आज मकड़ी जाल बुनती है। इसी प्रकार कितने ही वैभवशाली राष्ट्र उठे और गिरे। विजयोल्लास और भावावेशपूर्ण प्रभुत्व का कुछ काल तक कलुषित राष्ट्रीय जीवन बिताकर, सागर की तरंगों की भाँति उठकर फिर से मिट गये। पर हम आज भी जीवित हैं। लगभग हजार वर्ष की गुलामी में पिसकर भी हम नष्ट नहीं हुए, बल्कि हम दिनो-दिन अधिकाधिक तेजस्विता और शौर्य के साथ विश्व के रंगमंच पर उभर रहे हैं। **आज विश्व भौतिकता की तपिश से व्याकुल हो, शान्ति-नीर के लिए भारत की ओर निहार रहा है।** यह भारतीय दर्शन की अक्षय और अजेय शक्ति है। ❑

मिस नोबल से भगिनी निवेदिता

श्रीमती सृष्टि दण्डवते

रविवार का दिन था। संध्या का स्वर्णिम मुहूर्त था। सूर्यदेव अपनी समस्त आभा को लुटाने के बाद वापस जाने की तैयारी कर रहे थे। सन् १८९५ की इस पावन संध्या को लेडी मारगेसन के लन्दन स्थित घर में कुछ लोग बैठे हुए स्वामी विवेकानन्द जी का 'हिन्दू विचारधारा' पर व्याख्यान सुनने के लिए व्यग्रता से इन्तजार कर रहे थे।

थोड़ी देर बाद अट्ठाइस वर्षीय एक गौरवर्ण युवती ने कक्ष में प्रवेश किया। अपना स्कर्ट सँभालती और अनेकों आँखों को अपनी ओर उठी हुई-सी महसूस करती हुई वह एक तरफ पड़ी खाली कुर्सी पर जा बैठी। जन्म से पूर्व ही अपनी माँ के द्वारा परमेश्वर को समर्पित होकर, समर्पण के संस्कार लिए जन्मी, स्वयं में कुशाग्र बुद्धि, संयम और अनुशासन, त्याग-तपस्या, नेतृत्व और आज्ञापालन का मनोरम संगम सँजोए, यह युवती चेहरे से ही प्रतिभाशाली प्रतीत हो रही थी।

युवती ने स्वामीजी के प्रथम दर्शन किए। स्वामीजी का हृष्ट-पुष्ट लम्बा कद, तेजस्वी मुखमण्डल, जिसके चारों ओर एक गहन प्रशान्ति छाई हुई थी। दीर्घकालीन ध्यान के अभ्यास का प्रभाव, उनकी दृष्टि की सौम्यता एवं उदारता के माध्यम से अभिव्यक्त हो रहा था। चेहरे पर मधुर मुस्कान थी।

श्रीमती इसबेल बोलीं, "स्वामीजी, हमारे सब मित्र आ गए हैं, अपना प्रवचन शुरू कीजिए। कुछ संस्कृत श्लोकों की आवृत्ति के साथ स्वामीजी की वाणी मुखरित हो उठी। उन्होंने कहा, "हमारे सारे संघर्ष मुक्ति के लिए ही हैं। हम न तो दुःख ढूढ़ते हैं और न ही सुख; हम तो केवल अपनी मुक्ति ही ढूढ़ रहे हैं।" प्रवचन का उस युवती पर गहरा प्रभाव पड़ा।

मृत्यु क्या है? मृत्यु के बाद कुछ जीवन है क्या? धर्म क्या है? सत्य क्या है? – बचपन से ही ऐसे अनेक प्रश्न उसके मन में उठा करते थे। शाश्वत सत्य की खोज और उसके बोध के लिए व्याकुल वह युवती थी भगिनी निवेदिता, जिनके बचपन का नाम मार्गरेट एलिजाबेथ नोबल था।

स्वामीजी के दर्शन के बाद उसके जीवन में आमूल परिवर्तन आया। स्वामीजी के प्रवचनों ने उसकी सोयी अन्तरात्मा को झकझोर दिया। उसके मन का अन्धकार दूर हो गया तथा ज्ञानरूपी प्रकाश से उसका जीवन जगमगाने लगा।

स्वामीजी ने कहा – "आज विश्व को ऐसे बीस नर-नारियों की जरूरत है, जो जनसेवा हेतु स्वयं को समर्पित कर दें और साहस के साथ यह घोषणा कर सकें कि उनका जीवन जनहित के लिए है।" मार्गरेट ने स्वामीजी की इस चुनौती को स्वीकार किया और अपना जीवन मानवता की सेवा में होम कर दिया।

स्वामीजी की प्रेरणा से वे अपना देश छोड़कर २८ जनवरी १८९८ को भारत पहुँची। २५ मार्च १९९८ को स्वामीजी ने उन्हें दीक्षा दी और एक नया भारतीय नाम दिया – निवेदिता, जिसका अर्थ है सेवा के लिए समर्पित। इसी दिन से वे स्वामीजी की मानस-कन्या तथा भारतवासियों की भगिनी हुई।

लन्दन में स्वामीजी से हुई पहली मुलाकात का तथा अपने जीवन पर उसके दूरगामी प्रभाव का वर्णन करते हुए १९०४ ई. में भगिनी निवेदिता ने अपने एक मित्र को लिखा था – "मान लो उस बार वे लन्दन न आए होते, तो मेरा जीवन एक दिशाहीन स्वप्न मात्र होकर रह जाता। मैं जानती थी कि मैं किसी चीज की प्रतीक्षा कर रही हूँ। मैं जानती थी कि एक आह्वान आने वाला है, और वह आ पहुँचा। पर मैं यदि जीवन में और भी डूब चुकी होती, तो समय आने पर मै उसे शायद ही ठीक ठीक पहचान पाती। सौभाग्यवश मैं अबोध थी और उस पीड़ा से बच गई। मेरे अन्तर में सदा ही एक प्रज्वलित वाणी थी, पर कहने को कुछ भी न था। मैं कितनी बार ही हाथ में कलम लेकर बैठती, परन्तु लिखने को कुछ भी न था और अब तो इसका अन्त ही नहीं। अपने वर्तमान संसार के लिए मैं जितनी उपयुक्त हूँ, उतना ही यह जग मेरी चाह में बैठा है। तीर को धनुष में स्थान मिल गया है। यदि स्वामीजी यहाँ न आए होते, यदि वे हिमालय की चोटियों में ध्यानमग्न हो गए होते, तो मैं निश्चित रूप से आज यहाँ न होती।"

स्वामीजी ने निवेदिता से कहा था, "पश्चिम में सामाजिक जीवन बाह्य उल्लास का एक ढेर मात्र है, किन्तु उसके नीचे छिपा है भीषण रुदन, उसकी समाप्ति होती है सिसकियों में। वहाँ भारतवर्ष में बाह्यतः दुःख तथा क्षोभ है, किन्तु अन्तःस्थल में है बेफिकरी और आनन्द। पाश्चात्य ने बाह्य जगत् पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया, भारत ने अन्तर्जगत पर। अब श्रेयस्कर यह है कि प्राच्य और पाश्चात्य दोनो हाथ-मे-हाथ डालकर, बिना एक दूसरे के वैशिष्ट्य को नष्ट किए, हितसाधन में लग जाएँ। प्राच्य और पाश्चात्य को एक दूसरे से बहुत कुछ सीखना है। दोनों के ही आदर्शों के समुचित सामंजस्य से भविष्य गढ़ा जाए, तब न प्राच्य रहेगा न पाश्चात्य, बल्कि रहेगी एक मात्र मानवता।"

स्वामीजी के इन उद्गारों से निवेदिता की जीवनधारा बदल गयी और यहाँ तक कि उनकी अपनी जन्मभूमि भी छूट गयी; देश, वेश और नाम भी बदल गया। एक विदेशी महिला होते हुए भी भगिनी निवेदिता ने भारत की राष्ट्रीयता अपना कर देशप्रेम व सेवा का एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया। ❑

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

१९/४/१९२०

मन का संशय पत्र या पुस्तक पढ़कर दूर नहीं होता – परिश्रम करना पड़ता है। यथाशास्त्र या यथोपदेश कार्य करते-करते हृदय में श्रद्धा का उदय होने पर क्रमश: चित्त शुद्ध हो जाता है और तभी संशय का नाश होता है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।

– "अत: हृदय मे अज्ञान से उत्पन्न हुए इस संशय को आत्म-ज्ञान-रूपी तलवार से काटकर, हे अर्जुन! तुम उठो और कर्मयोग में लग जाओ।" (गीता ४/४२)

यही बात भगवान अर्जुन से भी कहते हैं – उठकर योग करो अर्थात् शास्त्रविधि का पालन करो। ज्ञान रूपी तलवार से संशय का छेदन करना चाहिए, यह केवल उपदेश से नहीं होता – कर्म करना पड़ता है और करते करते सब ठीक हो जाता है। "हरि से लागि रहो रे भाई, तेरी बनत बनत बनि जाई" – यही असल बात है। लगे रहना होगा। चाहे जिसकी भी उपासना करो, उसका फल मिलेगा। उपास्य में ब्रह्मबुद्धि लानी पड़ती है – "माँ, उपासना-भेद से तुम पाँच मूर्तियाँ धारण करती हो; परन्तु जिसने पाँचों को तोड़कर एक कर दिया है, उसके हाथ से भला तुम कैसे बच सकती हो?"[१] "काली और ब्रह्म (के एकत्व) का मर्म जानकर मैंने धर्म-अधर्म आदि सबका त्याग कर दिया है। रामप्रसाद कहते हैं कि मैं मातृभाव से जिस तत्त्व की उपासना करता हूँ, उसके विषय में क्या मैं खुले आम चर्चा करूँ? मन, तू इशारे से ही समझ ले न !"[१] इसी प्रकार सभी ने अपने अपने इष्ट में निष्ठा दिखायी है, परन्तु ठाकुर इस बात के लिए विशेष रूप से सावधान कर गए हैं कि निष्ठा के नाम पर कही पागलपन न हो। जिस-तिस की बात सुनना उचित नहीं। अपने गुरु के निर्देशानुसार कार्य किए जाना होगा, तभी कार्यसिद्धि होगी। पूरे मनोयोग से अपने पथ पर चलना होगा। किसने क्या कहा, या किधर क्या है, यह सुनने-देखने में हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ भी नहीं।

ठाकुर कहा करते थे – "ग्रन्थ या ग्रन्थि?" सब कुछ छोड़कर '**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन** – हे अर्जुन, इस मार्ग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है।' इसी को सार करना होगा। मुक्त होने के बाद भी कोई-कोई प्रभु के लीलासहचर होकर जन्म लिया करते हैं, उन्हें नित्यमुक्त कहते हैं। भागवत (१/७/१०) में उन्हीं के बारे मे कहा है –

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ।।

– ऐसे मुनिगण, जिनकी अविद्या की गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मा में ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।

खूब चिन्तनशील होना और स्वयं सारी बातो पर विचार करके सिद्धान्त निश्चित करने का प्रयास करना।

२/५/१९२०

शरीर स्वस्थ रहे, नहीं तो कोई काम नहीं होगा। दीक्षा तो लेनी ही पड़ती है। पर मैंने कभी नही दी है और दूँगा भी नही। अत: इस विषय मे तुम्हे कही और प्रयास करना होगा। मेरी समझ में जो आता है, तदनुसार यथासाध्य उपदेश देता हूँ – बस इतना ही। मंत्रादि देना मुझसे न हुआ है, न होगा। सीधी सी बात स्पष्ट रूप से कह देना ही उचित है। भगवान अन्तर्यामी हैं। श्रद्धा हो, तो वे तुम्हारी इच्छानुसार सब व्यवस्था कर देते हैं। मेरा इस बात में पूर्ण विश्वास है। मेरी प्रार्थना है कि वे तुम्हारी दीक्षा-ग्रहण की हार्दिक कामना को पूर्ण करें।

६/५/१९२०

सभी चीजे अभ्यास के द्वारा सीखनी पड़ती है, परन्तु मुझे लगता है कि धर्म-कर्म या चित्त-संयम के लिए अभ्यास की जरूरत तुम लोग जरा भी स्वीकार नहीं करते। दो दिन थोड़ा आँखें मूँदकर या चार दिन थोड़ा-सा जप करके तुम लोग एकदम महाध्यानी या महाभक्त बन जाना चाहते हो। बाकी सब विषयो में तुम परिश्रम करने को तैयार हो और उसके लिए प्रतीक्षा भी कर सकते हो, पर धर्म-कर्म के विषय में थोड़ी-सी भी देरी सहन नहीं होती, बिल्कुल उतावले हो जाते हो। जो भी हो, जन्म-जन्मान्तर अभ्यास करने पर कही थोड़ा चरित्र गठन होता है। पर तुम लोग इस बात को न समझकर तीन दिनों मे ही किला फतह कर लेना चाहते हो। और क्या कहूँ !

मन को स्थिर करना क्या इतना आसान है? बिना परिश्रम के ही उसे कर लेना चाहते हो? सम्भवत: अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें ये सारी बातें लिखी हैं। अब लिखने को कुछ भी नही बचा है। मेरा स्वास्थ्य बिल्कुल भी ठीक नहीं है। तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे काफी कष्ट हुआ। लगता है कि अब यह सब कहने-सुनने की क्षमता मुझमें नहीं रही। यदि मेरे शरीर में पुन: बल का संचार हो, तो ऐसे पत्र का उत्तर देने का प्रयास करूँगा। मैं जो कहता हूँ, तुम यदि उस पर ध्यान न दो, तदनुरूप करने का प्रयास न करो, तो फिर मेरा कहना व्यर्थ हो तो है ! सभी सकुशल है, यह जानकर आनन्दित हुआ। ❑

१. रामप्रसाद सेन के बँगला भजनों का भावानुवाद

रामकृष्ण आश्रम. बेलगाम (कर्नाटक) में साधु-निवास व सारदा-मण्डप का उद्घाटन

१८ अप्रैल २००३ ई. को रामकृष्ण मठ व मिशन, बेलूड़ मठ, हावड़ा (प.बं.) के महासचिव श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज और कर्नाटक राज्य के महामहिम राज्यपाल श्री टी. एन. चतुर्वेदी के द्वारा आश्रम के नवनिर्मित साधु-निवास तथा भोजनालय का उद्घाटन सम्पन्न हुआ। उद्घाटन समरोह में रामकृष्ण संघ के ६५ संन्यासियों तथा कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा गोआ से लगभग २०० से अधिक भक्तों ने भाग लिया।

उद्घाटन समारोह के पूर्व १६ व १७ अप्रैल की शाम को विशेष सत्संग का आयोजन किया गया। १७ अप्रैल, सायंकाल के अपने स्वागत-भाषण में इस आश्रम के अध्यक्ष स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी ने कहा कि यह विशेष सत्संग साधु-निवास एवं सारदा मण्डप के प्रवेश के पूर्व शुद्धिकरण-क्रिया के समान है। बेलगाम समाज के बहुभाषी गठन के अनुरूप ही यहाँ पर कन्नड़, मराठी, हिन्दी एवं अँग्रेजी में प्रवचन हुए।

१६ अप्रैल को वैदिक वेदपाठ तथा भक्ति-संगीत के साथ सत्संग आरम्भ हुआ। तत्पश्चात् स्वामी गौतमानन्द जी, भौमानन्द जी, विरूपाक्षानन्द जी तथा विष्णुपादानन्द जी के प्रवचन हुए। बेलगाम के पुलिस-अधीक्षक श्री बी. दयानन्द ने भी सभा को सम्बोधित किया। इन पाण्डित्यपूर्ण तथा प्रेरणादायी प्रवचनों से आश्रम में एक सुखद अनौपचारिकता के वातावरण का निर्माण हुआ।

१७ अप्रैल की शाम को गहन आध्यात्मिक भाव के साथ सत्संग आरम्भ हुआ। विशाल पण्डाल श्रद्धालु श्रोत्राओं से, खचाखच भरा हुआ था। तभी भयानक आँधी उठी, जो मानो पूरे सत्संग को ही उड़ा ले जानेवाली थी। श्रोतागण हृदय से नाम-संकीर्तन करने लगे और प्रभु की कृपा से अपेक्षित भारी वर्षा ठण्डी हवा में बदल गयी। तब स्वामी भौमानन्द जी, स्मरणानन्द जी, स्वामी राघवेशानन्द तथा ब्रह्मस्थानन्द जी के प्रवचनों का सिलसिला शुरू हुआ। स्वामी राघवेशानन्द जी ने 'श्रीरामकृष्ण का विश्व को अवदान' विषय पर कन्नड़ भाषा में व्याख्यान दिया। तथा स्वामी ब्रह्मस्थानन्द जी ने विशुद्ध मराठी में 'रामकृष्ण परम्परा में इस नवीन मठ का महत्त्व' विषय पर अपने विचार व्यक्त किए। स्वामी भौमानन्द जी ने 'धर्म तथा आध्यात्मिक जीवन' विषय पर बोलचाल की मराठी भाषा में वक्तृता दी एवं स्वामी स्मरणानन्द जी ने 'सारदा देवी : जीवन तथा सन्देश' विषय पर हिन्दी में प्रवचन दिया। कर्नाटक के महामहिम राज्यपाल श्री टी.एन. चतुर्वेदी बिना किसी पूर्व-सूचना के अनौपचारिक रूप से इस सभा में उपस्थित थे।

गोकर्ण से आए हुए अनुभवी वैदिक पुरोहितों ने नवीन आवास-गृहों के लिए होनेवाले विविध अनुष्ठानों एवं होम-क्रियाओं का सम्पादन किया। यह अनुष्ठान १७ अप्रैल को प्रातः ७.३० बजे 'पुण्याहवाचन' से आरम्भ हुआ। तदुपरान्त गणपति-प्रतिष्ठा, नवग्रह-पूजा, वास्तु-शान्ति, रक्षयाग-होम, नवग्रह-होम तथा रुद्र-होम किये गये। वैदिक पुरोहितों ने सारे अनुष्ठान पारम्परिक विधि के अनुसार निष्ठापूर्वक सम्पन्न किये।

१८ अप्रैल को स्वामी गौतमानन्द जी, वागीशानन्द जी तथा अन्य संन्यासियों ने नये भवनों का वास्तु-प्रवेश सम्पन्न किया। इसके उपरान्त 'स्वामी विवेकानन्द स्मृति-भवन' में स्वामी राघवेशानन्द द्वारा 'रामकृष्ण-होम' किया गया। ११ बजे साधु-निवास में वैदिक पुरोहितों द्वारा श्रीसूक्त हवन किया गया।

नये भवनों का औपचारिक उद्घाटन १० बजे सम्पन्न हुआ। श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज ने साधु-निवास एवं महामहिम राज्यपाल श्री टी. एन. चतुर्वेदी ने सारदा-मण्डप का उद्घाटन किया। इस दौरान समवेत भक्तगण मुख्य पण्डाल में 'देवी-माहात्म्य' का पाठ करते रहे। मुख्य अतिथि का मंच पर आगमन होने पर, वैदिक सूक्तों तथा मंत्रों के भव्य पाठ के साथ कार्यक्रम का श्रीगणेश हुआ। आश्रमाध्यक्ष स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी ने समागत भक्तों का स्वागत किया तथा अतिथियों का परिचय दिया। स्वामी गौतमानन्द जी द्वारा 'श्रीरामकृष्ण और आधुनिक युग' विषय पर कन्नड़ भाषा में पहला व्याख्यान दिया गया। तत्पश्चात् आश्रम के एक अन्तरंग भक्त तथा कर्नाटक के भूतपूर्व डी.जी.पी. श्री वी. वी. भास्कर ने सभा को सम्बोधित किया। उन्होंने संक्षेप में स्वामी विवेकानन्द का जीवन्त सन्देश प्रस्तुत किया और विशेष रूप से बताया कि भविष्य में बेलगाम का आश्रम धर्म-पिपासुओं के लिए उस जीवनदायी सन्देश के संरक्षण तथा प्रसार का एक प्रमुख केन्द्र होगा। इस बात को रेखांकित करते हुए उन्होंने बताया कि इस आश्रम ने पहले से ही

'हर व्यक्ति को उसकी क्षमता तथा आवश्यकता के अनुरूप देकर' स्वामीजी के व्यावहारिक वेदान्त को रूपायित करना आरम्भ कर दिया है। स्वामी वागीशानन्द जी ने 'श्रीरामकृष्ण का दिव्य प्रेम' विषय पर अपने मर्मस्पर्शी भाषण द्वारा समवेत श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। उनके भाषण की समाप्ति पर अनेक श्रोताओं की आँखें आँसुओं से नम थीं। उत्तरी कर्नाटक की जीवन्त वीरशैव परम्परा से रुद्राक्ष मठ के सिद्धराम स्वामी जी ने आशीर्वचन प्रदान किये। उन्होने रामकृष्ण मिशन द्वारा गृहीत आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक भावों तथा आदर्शों की भूरि भूरि प्रशसा की। मुख्य अतिथि श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी ने 'रामकृष्ण-भावधारा' पर अंग्रेजी में व्याख्यान दिया तथा राज्यपाल ने हिन्दी में 'श्रीमाँ सारदा देवी' पर अपना अध्यक्षीय भाषण दिया और यह घोषणा की कि रामकृष्ण मिशन एक ऐसी अद्वितीय संस्था है, जो अथक भाव से लोगों में नैतिक मूल्यों का प्रसार कर रहा है। स्वामी राघवेशानन्द जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। इस सभा में उपस्थित श्रोताओं में बेलगाम के डिस्ट्रिक्ट कमिश्नर श्री पलाक्ष जी, पुलिस सुपरिंटेंडेंट श्री बी. दयानन्द और स्थानीय कुछ प्रमुख उद्योगपति, व्यापारी तथा चिकित्सक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सबको महाप्रसाद वितरित किया गया।

१८ अप्रैल के सायं ५.३० बजे एक विशेष सभा आयोजित की गयी। स्वामी राघवेशानन्द जी ने उपस्थित जनों का स्वागत किया और स्वामी विष्णुपादानन्द जी ने मराठी में 'विश्व शान्ति और स्वामी विवेकानन्द' विषय पर भाषण दिया। इसके बाद मुख्य अतिथि श्री डी. पी. पाटिल तथा श्री एच.के. पाटिल के व्याख्यान हुए। कर्नाटक के सिंचाई मंत्री श्री एच.के. पाटिल ने बेलगाम के रामकृष्ण आश्रम को पूरे उत्तरी कर्नाटक के लिए एक वरदान बताया। अगले दो व्याख्यान स्वामी वागीशानन्द जी तथा स्वामी स्मरणानन्द जी द्वारा दिये गये, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा में क्रमशः 'रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन के इतिहास' और 'गृहस्थों के प्रति श्रीरामकृष्ण के उपदेश' पर प्रकाश डाला।

अन्त में स्वामी पुरुषोत्तमानन्द जी ने धन्यवाद ज्ञापित करते हुए कहा, ''कह नहीं सकता कि ये विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान आपके हृदय-मन में कितना प्रवेश कर सके हैं, परन्तु आज आपने कुछ महान् साधुओं तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के दर्शन किये हैं, जिन्होंने आजीवन परिश्रम तथा सतत उद्यम से समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया है। और हम लोगों ने भी आपको, आपकी भक्ति तथा जीवन के उच्च आदर्शों के प्रति आपके प्रेम को देखा है।'' इस उद्घाटन-समारोह का सचमुच यह एक बड़ा लाभ है।

सत्संग के बाद डेढ़ घंटे तक हुए सुरमणि-प्रवीण गोडखींडी के मनोहर बाँसुरी-वादन के द्वारा उद्घाटन-समारोह का समापन हुआ। पण्डित रवीन्द्र यावगल ने तबले पर संगत किया।

पाँच-कार्यक्रमों के साथ तीन दिनों तक चला यह महोत्सव आश्रम के स्वयंसेवकों की ऊर्जा तथा कार्यकुशलता के लिए मानो एक चुनौती-स्वरूप था। बेलगाम की नये स्वयंसेवकों की टोली तथा बंगलोर से आये २५ अनुभवी स्वयंसेवकों ने यह दायित्व सम्पन्न किया। बंगलोर से ही निपुण रसोइये भी लाये गये थे। १८ अप्रैल की रात को कुछ संन्यासी अपने अपने केन्द्रों को प्रस्थान कर गये और बचे हुए ३५ संन्यासियों को नवनिर्मित साधु-निवास के २१ कमरों में ठहराया गया।

एक बड़ी अनोखी बात जो देखने में आयी, वह यह थी कि इस पुनीत स्थान पर इन तीन दिनों के दौरान, न केवल संन्यासियों बल्कि उपस्थित भक्तों, प्रशसकों, दर्शकों एव कार्यकर्ताओं – सभी ने निरन्तर स्वय को धन्य महसूस किया।

रामकृष्ण आश्रम, लिंबड़ी की जलधारा- परियोजना

रामकृष्ण मिशन, लिंबड़ी (गुजरात) - सुरेन्द्र नगर जिले और विशेषकर लिंबड़ी नगर के आसपास के अचल में पानी का मुख्य आधार बरसात है। गाँवों के किनारे बने तालाबों में वर्षा का जल संग्रह किया जाता है और वर्ष भर उसी से पूरे गाँव को पानी की आपूर्ति होती है। पिछले कुछ वर्षों से इस क्षेत्र में कम और अनियमित वर्षा होने के कारण शीत ऋतु के समाप्त होते होते ही पानी की समस्या शुरू हो जाती है और मार्च आते आते तो यह भीषण रूप ले लेती है। अधिकांश तालाब बिलकुल ही सूख जाते हैं और इससे लोगों को बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। पिछले वर्ष राहत कार्य के अन्तर्गत रामकृष्ण मिशन, लिंबड़ी के द्वारा कुछ गाँवों में तालाबों का विस्तार तथा गहरीकरण कराया गया, ताकि उनकी संग्रह-क्षमता बढ़ जाय और कम बरसात के बावजूद अधिक जल का संग्रह हो सके।

इसके परिणाम बड़े ही आशाजनक रहे। देखने में आया कि इन तालाबों में पानी लगभग पूरे वर्ष भर रहता है। इससे प्रेरित होकर एव पानी की समस्याओं को दिनो-दिन भीषण रूप लेते देखकर इस केन्द्र द्वारा 'रामकृष्ण-जलधारा-परियोजना' शुरू की गयी है। इसके अन्तर्गत तालाबो को बड़ा तथा गहरा करना, बोर करना, पानी आने की जगह को बढ़ाना, पक्के बाँध बनाना और पानी के अधिकतम संग्रह हेतु तालाब में दरवाजे की व्यवस्था आदि कार्य किए जा रहे हैं। अनेक गाँवो में कार्य पूरा हो चुका है और कुछ गाँवों में कार्य प्रगति पर है। इस परियोजना को उदार दान-दाताओं और ग्रामिणों की सहायता से सफल बनाया जा रहा है। अभी तक इस कार्य में ११ लाख रुपये खर्च हो चुके हैं, जल-सग्रह से ही जल समस्या का निराकरण हो सकता है, यही देखकर इस परियोजना पर बल दिया जा रहा है। ❑ ❑ ❑